भेड़ और मनुष्य



भेड़ और मनुष्य

[मौलिक कहानी-संग्रह]

कथाकार

यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'

प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) लिमिटेड, इलाहाबाद

१९५६

मूल्य १।।।)

मुद्रक
नरेन्द्र प्रिंटिङ्ग वर्क्स
इलाहाबाद

इन रचनाओं की बात

कथा-साहित्य के इस संग्रह को प्रस्तुत करते समय, मन में शंका उठती है कि इसे "कहानी संग्रह" नाम दिया जाए या लघु उपन्यास-संग्रह। कहानी जीवन की एकमात्र भावना का चित्रण है तो उपन्यास उसकी समस्त परिस्थितियों और सम्पूर्ण भावनाओं का दिग्दर्शन। पहला एक झाँकी या 'स्नैप' है तो दूसरा पूरा चित्र संग्रह या 'एलबम;' किन्तु कहानी और उपन्यास दोनों की आधारभूत प्रणालियाँ एक ही हैं, ध्येय एक ही है और उद्गम भी एक ही। उस उद्गम से निकली शरत् बाबू की 'रामेर सुमति' जैसी चालीस पृष्ठों की रचना को 'कहानी'-जिसे अंग्रेजी में "शार्ट स्टोरी या लघु कथा" कहते हैं—वह नाम दिया जाए या (नावलेट) लघु-उपन्यास ? रामेर-सुमति में वात्सल्य-जन्य करुण भावना का ही प्राधान्य है। उसमें रामलाल की बालप्रकृति और बाल्यावस्था का ही चित्रण है इस दृष्टि से वह एक कहानी है। किन्तु बालक रामलाल की विभिन्न परिस्थितियों, नारायणी, बिन्दो, श्यामलाल, दिगम्बरी आदि की सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल भावनाओं का उसमें सफल और सर्वांग (सम्पूर्ण) चित्रण भी होने से उसे लघु-उपन्यास (नावलेट) के वर्ग में रखा जा सकता है। प्रस्तुत संग्रह में ऐसी सात लम्बी कथाएँ हैं, उन्हें पाठक चाहे कहानी कहें चाहे लघु-उपन्यास।

मैंने कहानी लिखना १९३० के लगभग आरंभ किया। उन दिनों इलाहाबाद से "भविष्य" निकला करता था। मैं उसी

के लिए कहानियाँ गढ़ता था। उसे 'गढ़ना' ही कहना ठीक होगा, क्योंकि उस समय अभिव्यक्ति की आतुरता तो मुझमें थी, किन्तु कहानी कला का ज्ञान न था। मैंने कई कहानियाँ "भविष्य" को भेजीं। यद्यपि स्कूलों की पत्रिकाओं में मेरी कहानियाँ खूब छपती थीं, लेकिन "भविष्य" ने उन्हें कभी स्वीकार नहीं किया। पहली कहानी जो किसी बाहरी पत्रिका में छपी, वह थी "विमाता"। यह "माया" में सन् ३५ के आरंभ में प्रकाशित हुई थी।

सन् १९३६ में मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ने आया। उस वर्ष विश्वविद्यालय की हिन्दी-परिषद् ने जो कहानी-प्रतियोगिता की, उसके अध्यक्ष थे प्रसिद्ध कथाकार सुदर्शनजी। मेरी कहानी "जली चिट्ठी" को द्वितीय पुरस्कार मिला। मैं था विज्ञान का विद्यार्थी, अतः हिन्दी पाठी विद्यार्थियों से इस प्रतियोगिता में बाजी मार ले जाने पर ऐसा उत्साह बढ़ा कि अगले वर्ष की कहानी-प्रतियोगिता तक मैंने लगभग बीस कहानियाँ लिख डालीं। सन् १९३७ की विश्वविद्यालय की कहानी-प्रतियोगिता जैनेन्द्रजी की अध्यक्षता में हुई। मेरी कहानी "वैज्ञानिक की पत्नी" को प्रथम पुरस्कार मिला। बच्चनजी ने भी, जो तब तक पर्याप्त ख्याति पा चुके थे, "पत्थर और देवता" कहानी लिखी थी, जिसे द्वितीय पुरस्कार मिला। जैनेन्द्रजी को, जैसा कि उन्होंने मेरे एक संग्रह की भूमिका में लिखा है, मेरी कहानी देखकर विश्वास नहीं हुआ कि एक विद्यार्थी ऐसी कहानी लिख सकता है। वे पुरस्कार-समारोह से पहले डॉ० गंगानाथ झा होस्टल में मेरे कमरे में आए। मुझसे बात की। मैंने बीस कहानियोंवाली अपनी वह कापी उनके सामने रखकर उनसे किसी संपादक के

खास मेरी सिफारिश कर देने को कहा। तब उन्हें विश्वास हुआ कि कहानी मेरी ही लिखी है। उसके उपरान्त तो सन् ३८—३९ में अनेक हिन्दी पत्रों में मेरी कहानियाँ धड़ाधड़ छपने लगीं।

विश्वविद्यालय छोड़ देने के उपरान्त सरकारी काम की दौड़धूप में कहानी लिखने की प्रेरणा जीवित रही, तो उसका श्रेय उन संपादकों को ही है, जो मुझसे कहानी लिख भेजने के लिए बारबार आग्रह करते थे। इनमें सबसे उल्लेखनीय हैं 'माया' के संपादक श्री क्षितीन्द्रमोहन मित्र मुस्तफी। अकेले उन्हीं के सैकड़ों पत्र मुझे मिले। सौभाग्य से मुझे सरकारी काम के सिलसिले में प्रान्त के कोने-कोने में जाकर दूर-दूर गाँवों के भ्रमण का अवसर मिला। हिम-प्रदेश की पैदल यात्राओं का सौभाग्य प्राप्त हुआ। समय पर "माया" कार्यालय में कहानी न पहुँचने पर कभी उसके तत्कालीन सह-संपादक श्री देवीदयालजी चतुर्वेदी "मस्त" का आग्रह आ जाता, तो कभी श्री मोहन सिंहजी सेंगर का। मानव जीवन के विभिन्न स्तरों तथा उसकी विभिन्न परिस्थितियों के उपादान तो मुझे अनायास ही सुलभ थे, उन्हीं से मैं कहानी रच डालता।

"माया" के संपर्क में आनेवाले लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यसेवी देवीदयालजी चतुर्वेदी "मस्त" से, जो कालान्तर में "मंजरी" और फिर "सरस्वती" के संपादक हुए, पत्रों से ही परिचय हुआ। उन्हीं के आग्रह से "सरस्वती" के लिए लिखना आरंभ किया। इसी प्रकार सेंगरजी के आग्रह से "नया-समाज" में लिखने लगा। इन छपी हुई कहानियों के दो संग्रह "अस्थिपंजर" तथा "शैलगाथा" प्रकाशित हो चुके हैं। पहले संग्रह में वैज्ञानिक विषयों से संबंधित कहानियाँ हैं तथा दूसरे में पर्वतीय समाज से

संबंधित । प्रस्तुत संग्रह में, जो मेरा तीसरा संग्रह है, गार्हस्थ्य जीवन से संबंधित कहानियाँ हैं। विगत महायुद्ध में हमारी सामाजिक तथा पारिवारिक व्यवस्था को जो ठेस पहुँची, वही प्रस्तुत कहानियों की पृष्ठभूमि है।

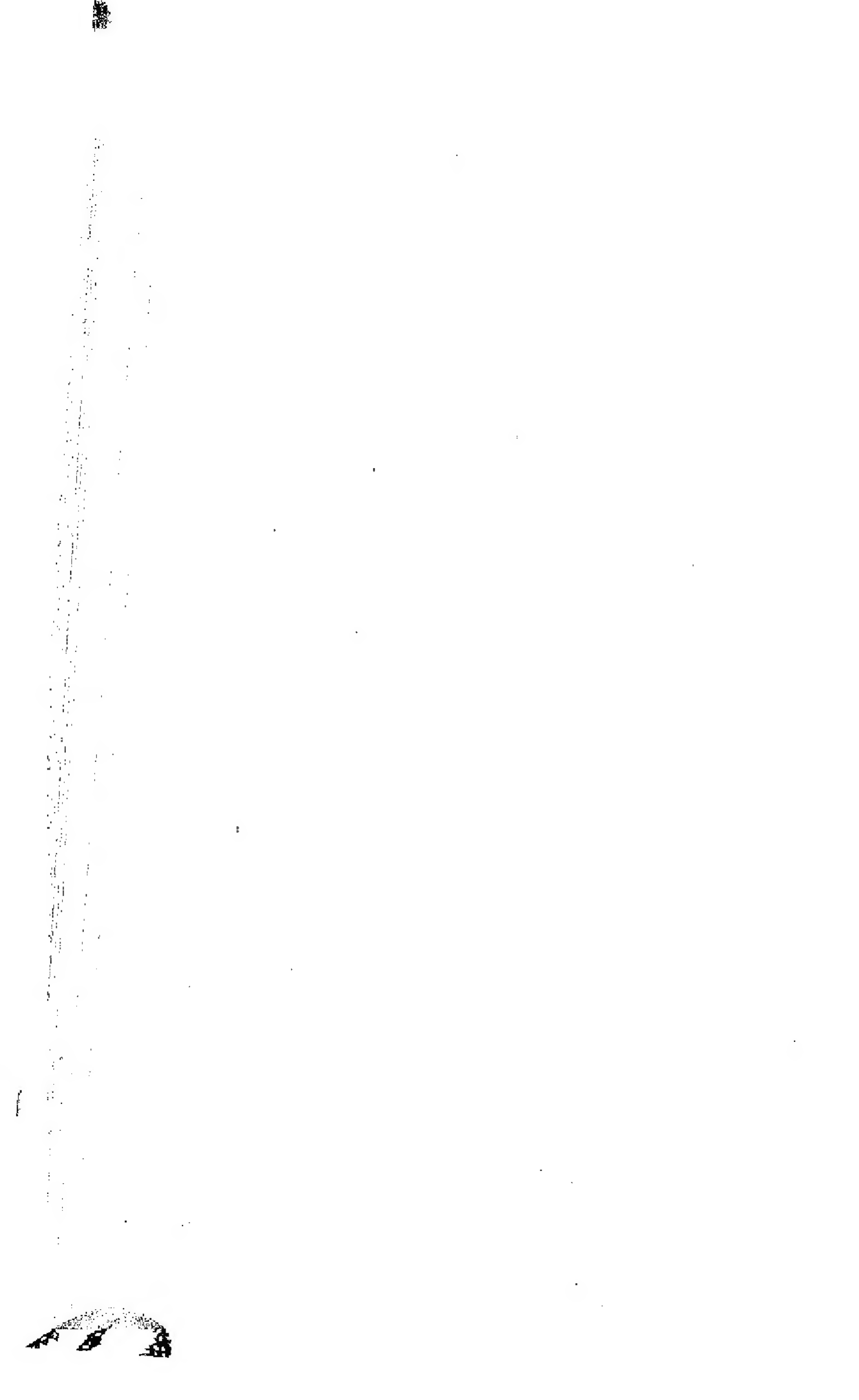
अन्त में प्रस्तुत-संग्रह के विषय में एक स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

इन पंक्तियों के लिखते समय मेरे सम्मुख दो अपरिचित पाठकों के पत्र हैं। उन्होंने मेरी नवीनतम कृति "शैलवधू" को "सरिता" में पढ़कर उस कथानक की मुख्य नायिका "मधुली" के विषय में पूछा है—"क्या वह सच्ची घटना है ? क्या वह अल्मोड़े के अमुक पहाड़ी प्रान्त से तो संबंधित नहीं है ?" अपनी कहानियों के विषय में संपादकों के द्वारा प्रत्यावर्तित ऐसे पत्र मुझे बहुधा मिलते रहते हैं। पाठकों के मन में मेरे पात्रों के विषय में यह भ्रांति क्यों हो जाती है, यह मेरी लेखन-शैली का दोष है या गुण, इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं। मैं ऐसी शंकाओं के निवारण के लिए प्रस्तुत संग्रह की कहानियों के संबंध में पहले ही निवेदन कर देना चाहता हूँ कि "भेड़ और मनुष्य" की सभी कहानियों के पात्र सर्वथा काल्पनिक हैं। उनका किसी जीवित या मृत व्यक्ति से कोई संबंध नहीं है।

प्रयाग,
मार्च १९५६

—यमुनादत्त वैष्णव "अशोक"

अनुक्रम



पति-पत्नी

जाड़े की काली रात थी। करवट बदल, जगन्नाथ मधुर निद्रा का आवाहन कर, सिर को ढाँपकर सो गया। तभी दरवाजे पर खटखटाहट हुई। अपने सारे कुटुम्ब को निश्चिन्त सोते देखकर, उसने सोचा, 'अब किसी को उठकर जाना चाहिए। देखना चाहिए कि वह खटखटाहट कैसी हो रही है।'

वह स्वयं पाँव के नीचे कम्बल को दबाकर, ठंडी हवा के अशुभ आगमन का द्वार-सा रोककर, फिर सोने का प्रयत्न करने लगा। पर खटखटाहट होती ही रही।

उनींदी आँखें थीं। विचार भी थके हुए, अस्पष्ट-से आ रहे थे। कभी क्षण भर के लिए नींद आ जाती, फिर क्षण भर में आँखें खुल जातीं, और संसार का वास्तविक रूप उसके लिए धूमिल, अस्पष्ट-सा हो जाता। निद्रा के एक ही क्षण में घटनाएँ मकड़ी के जाले-सी उस खटखटाहट के शब्द के ही चारों ओर बुनती और समाप्त होती चली जा रही थीं। कभी जगन्नाथ स्वप्न में उस शब्द को चोरों का आक्रमण समझ बैठता और चौंककर जग जाता। फिर आँखें लगने पर वह स्वप्न में ही नौकर को किवाड़ पर जाता हुआ देखता, और वहाँ अपने उस बातूनी मित्र को, जिसके आ जाने पर बातों का क्रम ऐसा चलता कि पल्ला छुड़ाना कठिन हो जाता, खड़ा देखता।

खटखटाहट जारी रही, और जगन्नाथ ने उस ओर ध्यान लगाना चाहा। तीन कमरों के उस पार मुख्य दरवाजा

था। वहाँ पर उसकी आवाज चिल्लाने पर भी नहीं पहुँच सकती थी।

'अब नौकर को उठकर देखना चाहिए, कि कौन विघ्नकर्त्ता है।' जगन्नाथ ने फिर सोचा, पर शीघ्र ही उसे स्मरण हो गया कि नौकर तो तीन-चार दिन पहले ही काम छोड़ गया है। आज बाजार से सब्जी स्वयं उसे ही लानी पड़ी थी, और कल पत्नी के बरतन मलते समय मुन्नी ने भी उसका अनुकरण करके प्लेट को धोने के बजाय तोड़ दिया था। दूसरा नौकर मिल नहीं रहा था।

'तब पत्नी को जाकर देखना चाहिए कि वह कौन है,' उसने फिर नींद से बोझिल पलकों को बन्द करके सोचा।

पर पत्नी फिर भी न उठी, और न उसने वह खटखटाहट सुनी।

"जया !" जगन्नाथ ने रजाई के बाहर मुंह निकालकर पत्नी को पुकारा—"जरा देखो तो सही, कि कौन पुकार रहा है।"

हाँ, जया उसकी पत्नी का नाम था। जिस शहर की यह कहानी है, उस ओर जूही को जया भी कहते हैं। सचमुच जया भी जूही की कली की भाँति सुकुमार और उसी के फूलों की भाँति सुन्दर थी। यद्यपि पिछले पाँच वर्षों में, जब से जगन्नाथ से उसका विवाह हुआ था, वह दो बच्चों की माँ हो गई थी; पर अब भी बच्चों से फुरसत पाकर जब कभी वह अपने गोरे शरीर पर लड़ाई से पहले की खरीदी हुई जारजेट की काली साड़ी और वह काला ब्लाउज पहनती थी, तो अपनी समवयस्क सभी माताओं से सुन्दर दीखती थी।

पत्नी ने अभी-अभी बच्चे को सुलाकर चैन की साँस ली थी। नौकर के न होने के कारण बर्तनों को स्वयं मलने से दो-

तीन दिन से उसकी हथेलियो मे जलन-सा हो आती थी। वह हथेलियों को बगल में दबाए मीठी नींद ले रही थी। पर पति के शब्द सुनते ही, चौंककर उठ गई।

"क्या है ?" उसने पूछा।

"बाहर यह खट-खट कैसी हो रही है। न जाने कौन इस घड़ी आया है।"—पति ने अपने स्वप्निल, मोटे स्वर मे कहा।

"कहाँ ?" पत्नी एकाएक बैठते हुए बोली—"अरे, वह खटखट ? बिल्ली होगी बेचारी। आज बाहर ही रह गई होगी।"

"तो जाकर किवाड़ खोल दो, जया, नहीं तो वह सोने न देगी।" पति ने निश्चिन्त होकर, फिर मुंह ढाँपते हुए कहा।

पत्नी ने तुरन्त उठकर बाहर जाने की सोची। पति की आज्ञा तथा उनकी प्रगाढ़ निद्रा पर किंचित् भी रोष न किया। वह पुसी के अन्दर आने की व्यग्रता के विषय में ही उस समय सोचने लगी। पर चारपाई पर से नीचे पाँव उतारते ही, उसे अपनी थकान का स्मरण हो आया। बाल बिखरे थे। हथेलियों में जलन थी, और घुटनों के नीचे पाँवों की पिंडलियों में हल्का-हल्का दर्द था। दिन भर दो बच्चों की देख-रेख, चार व्यक्तियों के परिवार का भोजन, अनेक पाहुनों की चाय का आयोजन, फिर ढेर-से बर्तनों को मलना, यह सब काम उसे पिछले एक सप्ताह से करना पड़ा है। नौकर जब से गया है, तब से कुछ ऐसी ही शिथिलता उसके शरीर में प्रति शाम आ जाती है। सब काम समाप्त करके, जब वह आधी रात के करीब बिस्तर पर लेटती है, तो उसका शरीर थकान से चूर-चूर रहता है, और प्रत्येक हड्डी, प्रत्येक जोड़ दुखता मालूम पड़ता है।

पति प्रातः दस बजे ही पढ़ाने स्कूल चले जाते हैं, उससे पहले ही उन्हें भोजन खिलाना पड़ता है। शाम को चार बजे उनके वापस आने के समय चाय तैयार रखनी पड़ती है। सुबह दस बजे तक तो उसे सिर उठाने तक का अवकाश नहीं मिलता। कभी बच्चों को नहलाना, कभी उन्हें दूध पिलाना, कभी पति की कमीज के बटन टाँकना, कभी जल्दी-जल्दी उनके लिए तरकारी बनाकर पराठे सेंकना। नौ बजे तक सारा काम हो जाता है। तब वह सोचती है, 'वे अब स्कूल जायँगे, तो कुछ फुरसत मिलेगी।'

उन्हें खाना खिलाकर, पतीली को ढाँककर, तवे को उतार कर, वह स्वयं भूखी ही जल्दी-जल्दी पान बनाने चौके से बाहर आ जाती है। पान का बीड़ा मुह में दबाकर जब वे चले जाते हैं, तब ठंडी दाल के साथ सूखी रोटी खाती है।

यह तो केवल एक सुखमय विचार-मात्र होता है कि पति चले गये, और अब कुछ अवकाश मिलेगा। वास्तव में उनके जाने पर ही काम बढ़ जाता। बर्तन मलना, चौका धोना, बच्चों के गन्दे कपड़ों को साफ करना, बिस्तर सुखाने को बाहर डालना, फिर उसे सँभालकर रखना, घर की सफाई आदि काम प्रति दिन इतने रहते हैं कि कभी-कभी तो पति के घर आने पर ही ज्ञात होता है कि चार बज गए।

किवाड़ खोलकर जया ने देखा, वहाँ बिल्ली न थी। खट-खटाहट का शब्द भी बन्द हो गया था। अब बिल्ली को बुलाया जाय या किवाड़ उसके आने के लिए कुछ देर खुला रखा जाय, इसी द्विविधा में वह दरवाजे पर खड़ी, अपनी थकान के विषय में सोच रही थी। और अब पहली बार उसे ध्यान आया कि इस समय वे ही स्वयं उठकर इस खटखटाहट का कारण जानने

को बाहर आ जाते, तो ठीक था। मैं इतनी थकी हुई हूँ, फिर भी मुझे ही जगाना क्या उचित था?

उस समय उसे अपनी दशा पर अधिक सोचने का अवकाश भी नहीं मिला। अन्दर से कोई चिल्लाया—"माँ! माँ!"

बिना यह ध्यान में लाए कि वह छोटा बच्चा है या बड़ी मुन्नी, जया किवाड़ बन्द करके अन्दर चली गई। वहाँ जाकर उसने देखा कि पुसी खिड़की के ऊपर रोशनदान से मुन्नी की चारपाई पर कूदी थी और इसी से मुन्नी चिल्लाई थी।

पुसी को रसोई के पासवाले कमरे में उसकी टोकरी में डालकर, फिर अपने कमरे का दरवाजा बन्द करके, जया ने स्वयं मुन्नी की चारपाई पर कुछ देर लेटकर उसे फिर सुलाया, और तब अपने बिस्तर पर गई।

जया को नींद आई ही थी कि छोटे बच्चे ने खूब जोर से खाँसा और फिर रोने लगा। कल से उसकी नाक बह रही है। रात को जब उसकी नाक बिलकुल बन्द हो जाती है, तो वह रोने लगता है। उसकी नाक साफ करके, उसे एक-दो बूँद दवा सुँघानी पड़ती है। बच्चे की नाक साफ करके, उसने तकिए के नीचे दवा की उस शीशी को ढूँढ़ा, पर वह वहाँ न थी।

उसकी इच्छा हुई कि पति से कहे, 'जरा उठिए, और आलमारी से मिस्टॉल की शीशी निकाल दीजिए। वहीं पर छोटी पिचकारी भी होगी। एक बूंद मिस्टॉल इसकी नाक में डालूंगी।'

पर पति उस समय जोरों के खर्राटे ले रहे थे। उसने सोचा कि वे फिर अपनी रोज की वही बात कहेंगे, कि जया, यह मुझसे न होगा। तुम्हारी रखी हुई बच्चों की छोटी-छोटी चीजें

मुझे कभी नहीं मिलतीं। न मिलीं, तो फिर तुम्हें ही उठकर ढूंढ़नी पड़ेगी।

(२)

यह बात न थी कि जगन्नाथ अपने पारिवारिक जीवन से दुःखी हो। वह अपने बच्चों को प्यार करता था। वह उनके साथ कभी-कभी स्वयं भी खेलने लगता था। कभी उन्हें उछाल कर हँसा भी देता था, और कभी एक को गोद में लेकर, दूसरे की उँगली थामे, पड़ोसी मास्टर साहब के घर तक घूम भी आता था। जब जया मुन्नी को अपने हाथ का बुना पीला स्वेटर पहना देती, और छोटा बच्चा उसी के बुने लाल, ऊनी पाजामे और कोट को पहन लेता, तो जगन्नाथ उन्हें गर्व से बाजार तक भी घुमा लाता। लेकिन वह स्वयं न तो उन्हें कपड़े ही पहना पाता और न उन कपड़ों के रखने की जगहों की ही खबर पा सकता था। यह तो वह पत्नी की सहायता करने या उसके काम को हलका करने के लिए नहीं, बल्कि अपने ही मनोरंजन के लिए जब जी चाहता करता था।

जब कभी ऐसा अवसर आ जाता, तो वह कुछ अभिमान-मिश्रित बड़प्पन से पत्नी से इस प्रकार के वाक्य कहता, 'जरा अपने बच्चों को कपड़े तो पहना देना। इन्हें साफ तो कर दो। अरे, यह लो तुम्हारा बच्चा रोने लग गया। इसे सँभालो।'

पत्नी उत्तर में किंचित् मुस्कराकर कहती—"क्यों, क्या ये आपके बच्चे नहीं हैं? आपको भी तो इनके लिए कुछ करना चाहिए। सब मेरे ही ऊपर डाले रहते हैं।"

तब जगन्नाथ कहता—"क्यों नहीं? मेरे बच्चे हैं, तभी तो मैं इनके खाने-पहनने की व्यवस्था करने के लिए नौकरी पर

जाता हूँ। इन्हीं के लिए कमाकर लाता हूँ। घर का काम तुम्हारा है। बच्चों की देख-रेख तो औरतों का ही धर्म है। यह स्त्रैण कार्य्य पुरुषों से कैसे हो सकता है?"

ये बातें वहीं पर समाप्त हो जातीं। जया और जगन्नाथ दोनों शिक्षित थे। दोनों ही एफ० ए० पास थे। एफ० ए० के बाद जगन्नाथ ने सी० टी० पास किया था और जया भी शादी से पूर्व छः महीने तक महिला विद्यालय में बी० ए० पढ़ने गई थी।

घर का काम निश्चय ही औरत का है, यह बात जया स्वयं स्वीकार करती थी। वह सोचती, 'सचमुच आदिकाल से यही मानव-समाज में होता आया है। दुहिता, वधू, भार्या, गृहिणी, माता आदि प्राचीनतम नाम स्त्री-जाति के उनके घरेलू-पन के कारण ही पड़ गए हैं। तब इस तर्क का उत्तर ही क्या है कि स्त्री का क्षेत्र घर के अन्दर ही तक सीमित है? इसी लिए जब तक नौकर था, पति को कभी बच्चों की देख-रेख के लिए न कहती थी। लेकिन जब से पुराना नौकर चला गया, और नये नौकर का छोटी तनख्वाह के कारण रखना सम्भव न हुआ, जया का काम प्रतिदिन बढ़ता ही चला गया। वह पति को छोटे-छोटे घरेलू कार्यों में हाथ न बँटाने के लिए कभी दोष न देती। वह सोचती कि सुबह जल्दी-जल्दी खाकर वे स्कूल को दो मील साइकिल पर जाते हैं, और दिन भर के परिश्रम के उपरान्त फिर दो मील की यात्रा करके, शाम को थके-माँदे लौटते हैं।' इस पर भी उस बार बिना जया को बतलाए, उन्होंने एक ट्यूशन किया था, और चार महीने में सौ रुपया लाकर उसको दिये थे। फिर वे दो जोड़े बढ़िया साड़ियों और ब्लाउज के उन रुपयों से लिये गए थे। घर पर भी वे क्या खाली बैठते हैं?

कभी साइकिल ठीक करनी होती है, तो कभी विद्यार्थियों की कापियाँ जाँचनी पड़ती हैं। और कभी अवसर मिलने पर बच्चों को लेकर भी तो वे घूमने जाते हैं।

बच्चे की नाक की दवा का विचार उसके मन में ही रह गया, उसकी आँख लग गई।

उस रात कुछ ऐसा हुआ कि बच्चे किसी-न-किसी कारण चिल्ला उठते रहे। जया ठंडे बिस्तर को अपने ही ताप से गरम करके, मुड़े हुए पाँवों को सीधा कर पाई थी कि मुन्नी बोली—"माताजी, मेरी रजाई खिसक गई।"

"माँ, जाड़ा लग रहा है," फिर वह जोर से चिल्लाई। उसकी चिल्लाहट से छोटे बच्चे के जगने का डर था। बच्चे को थपथपाते हुए, विवश हो, जया ने धीरे से पति को पुकारा—"जरा मुन्नी को उढ़ा दीजिए, नहीं तो वह बच्चे को भी जगा देगी। मैं उसे सुला रही हूँ।"

"अच्छा, अच्छा।" जगन्नाथ ने ऊँघते हुए कहा और फिर क्षण भर में वह जोरों से खर्राटे भरने लगा।

"माँ, माँ, जाड़ा लग रहा है!" मुन्नी फिर चिल्लाई।

जगन्नाथ खर्राटे ही लेता रहा। जया ने एक हाथ से बच्चे को थपथपाया और धीरे से पाँव समेटकर मुन्नी की चारपाई तक खिसक जाने का प्रयत्न किया। पर वह बहुत दूर थी। फिर दूसरी ओर पति की ओर हाथ बढ़ाकर, उसे ही झकझोरकर कहा—"जरा मुन्नी की रजाई तो खींच दीजिए।"

"हाँ, खींचता हूँ," जगन्नाथ ने कहा। फिर भी वह पलटकर खर्राटे भरने लगा। पत्नी के आग्रह से केवल उन खर्राटों का जोर बढ़ गया।"

"माँ !...माँ !" फिर आवाज आई। और जया को इच्छा हुई कि दोनों बच्चों को पति के ऊपर पटक दे, और तब देखे कि उन दोनों बच्चों की चिल्लाहट से उनको नींद कैसे आती है। पर उसी क्षण छोटा बच्चा भी चिल्ला उठा "मैं हूँ! मैं हूँ!" मानो उसे अपना अस्तित्व प्रकट करने का यही उचित अवसर मिला हो।

जगन्नाथ अब उठा और चारपाई से नीचे उतरा। 'बिजली की बत्ती जला लीजिए,' जया ने कहना चाहा, पर झुँझलाहट के कारण वह विचार उसके मन में ही रहा और वह मुँह से कुछ न कह सकी।

जगन्नाथ दाईं ओर मुन्नी की चारपाई की ओर जाने के बजाय, बाईं ओर छोटी मेज की ओर चला गया। वहाँ मेज की ठोकर लगने से घुटना थामकर क्षण भर पीड़ा से विह्वल हो, बैठा-सा रह गया। फिर आगे बढ़कर रास्ता ढूँढ़ने के लिए उसने हाथ बढ़ाया, तो पानी का लोटा गिराकर उनींदी मुन्नी के बिस्तर पर उलट दिया। वह ऐसी चिल्लाई और उछली कि मानो गर्म तेल उसके ऊपर गिर गया हो। लोटा उछलकर फिर जगन्नाथ की ठुड्डी को छीलता हुआ, उसके पाँव के नंगे अँगूठे पर गिर गया।

(३)

उस सप्ताह जया और जगन्नाथ का पारिवारिक जीवन उसी भाँति चलता रहा। नौकर का मिलना असम्भव-सा हो गया। जगन्नाथ यथा-शक्ति पत्नी की सहायता करने का प्रयत्न करता, पर कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ त्रुटि हो जाती। जया अपना क्रोध हँस-कर उड़ा देती, या पति स्वयं क्षमा माँग लेता।

एक शाम को मौलवी साहब के चाय के समय एकाएक आ टपकने से जगन्नाथ घबरा गया। यद्यपि उसे उनके साथ चाय पीने में कोई आपत्ति न थी; पर उनके जूठे बर्तनों का भी जया को ही धोना पड़ेगा, इसमें शायद उसे कोई आपत्ति हो, यह शंका उसे खल रही थी। पर जया ने उनके चले जाने के उपरान्त उन जूठे बर्तनों को निस्संकोच मल लिया। जगन्नाथ उस दिन बहुत प्रसन्न हुआ। पर इस प्रसन्नता का उसके ऊपर बुरा ही प्रभाव पड़ा। वह अपनी प्रसन्नता में जया की असुविधा को बिलकुल ही भूल गया। सदा की भाँति बच्चों को साथ लेकर वह बैठक में न आया।

बच्चों को साथ-साथ बिठाकर दोनों साथ ही खाना खाने बैठे। यही क्रम कई दिनों से चल रहा था। डटकर खाना खा चुकने के उपरान्त जगन्नाथ उठा। बोला—"आज तरकारी बड़ा स्वादिष्ट बनी थी। रायता भी तुमने खूब अच्छा बनाया।"

हाथ धोकर, वह अखबार को लेकर, लैम्प के पास अपनी आराम-कुर्सी पर अकेले ही बैठ गया। अखबार के पन्ने उलटते-पुलटते उसकी आँखों को लैम्प की रोशनी कुछ असह्य-सी लगी। वह सोचने लगा कि रात को पढ़ने के लिए एक अच्छा लैम्प-शेड लाना ही चाहिए। पर इस समय भी तो आँखों के बचाव के लिए कुछ करना आवश्यक था। उसने अखबार के दो पन्नों को अपने सिर के पीछे कुर्सी के तकिए पर लगाकर, गर्दन से उन्हें दबाकर, एक ओढ़नी-सी बना ली और इस प्रकार अपनी आँखों पर रोशनी को रोकने के लिए परदा-सा गिरा दिया। शेष दो पन्नों को वह पढ़ने लगा। फिर भी आँखें तिलमिलाती रहीं और अखबार में जो कुछ लिखा था, वह उनके द्वारा

मस्तिष्क में न जा पाया। जगन्नाथ ने सोचा कि थोड़ा उन्हें आराम ही दे दो, और आँखें मूँद लीं। हाथ के पन्ने शीघ्र ही फर्श पर गिर गए और अखबार की ओढ़नी से मुँह ढाँपे, वह खर्राटे लेने लगा।

जया एक बार छोटे बच्चे को गोद में लेकर पति के पास पहुँचाने आई, पर उन्हें खर्राटे लेते देख, फिर लौट गई। उस ओर जूठे बर्तनों के ढेर ज्यों-के-त्यों पड़े थे, और दोनों बच्चे मानो निद्राप्रिय पिता को अपनी सारी नींद प्रदान करके, मन-ही-मन रात भर जागने का प्रण कर चुके थे। उन्हें सुलाना असम्भव हो गया। किसी प्रकार उलटे-सीधे एक को पीठ पर लाद और दूसरे को छाती पर चिपकाए, जया ने चौका साफ किया और बर्तन मले।

अगले दिन स्कूल में जगन्नाथ को अपने सहपाठी रमाप्रसाद का पत्र मिला। वह अपने दाँतों का इलाज कराने उसी शहर में आ रहा था। उसने लिखा था कि वह अकेले आ रहा है तथा उसी के घर पर टिकेगा। यह नई समस्या थी। मौलवी साहब के जूठे बर्तन मलना तो आसान था, पर अब एक उसका अभिन्न साथी और पुराना मित्र कई दिन तक उसके साथ टिकने आ रहा था। उसके आतिथ्य की बात थी। समय इतना कम था कि जगन्नाथ को अपनी कठिनाई प्रकट करने का अवसर न था।

जगन्नाथ सोचने लगा, ऐसे समय ऐसे पुराने साथी से उसके आने पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि भाई, तुम्हें मेरे यहाँ कष्ट होगा। कहीं अन्यत्र चले जाओ। पर यदि समय पर उसे पत्र लिखकर नौकर के न होने तथा पत्नी के सब-कुछ करने की बात बताई जा सकती, तो वह स्वयं शायद परिस्थिति को

समझकर कहीं और टिकता। यहाँ न खाना बनाने को कोई महाराजिन मिलती है, न पूरब की भाँति चौका-बर्तन करने को कोई कहार ही।

घर आकर जगन्नाथ ने रमेश का वह पत्र डरते-डरते पत्नी को दे दिया। पत्नी ने उसे पढ़ा। जगन्नाथ की आशा के प्रतिकूल वह रुष्ट नहीं, प्रसन्न ही दिखाई दी।

पत्र पति को लौटाते हुए कहा—"अच्छा है। उनके गाने फिर सुनने को मिलेंगे। वे गाते बहुत अच्छा हैं।"

"तुम तो गाने की सोच रही हो," पति ने कहा—"पर उनके खाने-पीने का भी तो प्रबन्ध करना है। नौकर के न होने से कितनी मुसीबत बढ़ गई है!"

पत्नी ने पति की ओर आश्चर्य से देखा। उनके बल पड़े हुए माथे को देखकर वह सदा की भाँति मुस्करा दी, ऐसे ही जैसे कि वह पति की बच्चों की-सी त्रुटियों पर पिछले सप्ताह भर हँसती आ रही है। अब मानो एक अतिथि की आने की सम्भावना से डरना जगन्नाथ की वैसी ही गलती थी। वह मृदु-मृदु हँसती हुई, बोली—"एक अतिथि के आ जाने से कौन-सी मुसीबत बढ़ जायगी! फिर वे तो आपके स्नेही हैं। उनका हमारे घर में आ जाना कितनी सहृदयता का परिचायक और कितने हर्ष का विषय है। वैसे वे और जगह भी जा सकते थे, पर उनका यह हमारे प्रति स्नेह ही है कि वे यहाँ टिकेंगे।"

जगन्नाथ को स्मरण हो आया कि उस बार रमेश आया था और दो दिन टिका था। स्कूल में जन्माष्टमी की छुट्टी थी। लोग झूले झूल रहे थे। वह जया और रमेश के साथ नदी किनारे तक टहलने गया था। वहाँ बाग में रमेश ने बाँसुरी

पर एक सुन्दर लय सुनाई थी। जया को वह तान बड़ी भाई थी।

उस रात को लौटकर जब वे खाना खा चुके थे, जया ने रमेश से कोई अच्छा गीत सुनने की जिद की थी। रमेश राजी न हुआ था। पर जब जगन्नाथ ने उसे विवश किया था, तो वह एक शर्त्त पर गीत सुनाने को राजी हुआ था। उसने कहा था—"यदि भाभीजी भी एक गीत सुनायँगी, तो मैं भी सुनाऊँगा।"

जगन्नाथ को यह शर्त्त अच्छी न लगी थी।

जया ने कहा—"मैं आपकी भाभी नहीं होती हूँ।"

"यदि हुई, तो सुनाओगी न ?" रमेश ने कहा था।

"अच्छा, यही सही।" जया बोली थी।

इस पर रमेश और जगन्नाथ ने अपनी-अपनी जन्मतिथि बतलाई थी। हिसाब लगाया गया था। रमेश सचमुच जगन्नाथ से दो माह छोटा निकला था।

जया ने 'मेरे तो गिरिधर गोपाल'...गाया था। तब रमेश ने जो गीत गाया था, वह जगन्नाथ को किंचित् भी अच्छा न लगा था। वह कुछ ऐसा था—'छेड़ दिया अन्तरवीणा का तार किसी ने चुपके-चुपके।...'

गीत की समाप्ति पर जया की वह विमुग्ध-सी मुद्रा और वह आत्मविस्मृत-सी भाव-भंगी भी जगन्नाथ को अच्छी न लगी थी। दूसरे दिन रमेश की गाड़ी पाँच बजे छूटती थी। जया ने चार ही बजे उठकर उसको चाय पिलाई थी और रास्ते के लिए पूरियाँ बनाकर रख दी थीं। इतनी सब कृपा अपने ही एक मित्र के प्रति अपनी पत्नी-द्वारा, यद्यपि वह उससे कभी पहले परिचित न थी, जगन्नाथ को बिलकुल न रुची

थी। पर उसने कोई बात स्पष्ट रूप से नहीं कही थी, और रमेश के चले जाने पर तो वह यह सब कुछ उसने भुला दिया था।

आज उसके आने का समाचार सुनकर पत्नी को प्रसन्नता हुई, यह देखकर जगन्नाथ कुछ अनोखी दृष्टि से जया की ओर देखने लगा। वह उसकी प्रफुल्ल मुद्रा की ओर देखते हुए उससे भी दूर कहीं उसके अन्तर में देखने की चेष्टा कर रहा था। सरल स्वभाव की पत्नी उसकी उस पैनी दृष्टि से घबरा-सी गई, पर उसने कहा कुछ भी नहीं। रोज की भाँति वह अपने काम-काज में लग गई।

जगन्नाथ इस विषय में कुछ कहने की इच्छा करता; पर पत्नी की उस मन्द मुस्कराहट को देखकर, जिसको वह पति की किसी बालोचित बात या त्रुटि के उपरान्त ही अपनी मुद्रा पर धारण करती थी, उसे कुछ कहने का साहस न होता था।

उस दिन शाम को जगन्नाथ कुर्सी पर बैठा चाय पी रहा था। उसी समय रमेश का ताँगा बाहर रुका। एक हाथ में अपना छोटा-सा बिस्तर और दूसरे में एटैची लिये, वह अन्दर दाखिल हुआ।

"नमस्ते, भाई साहब!" उसने अपने सिर को झुकाते हुए कहा।

उत्तर में हाथ जोड़कर नमस्ते करते हुए जगन्नाथ ने कहा—"क्यों भाई, तुम्हें तो मालूम होता है, आकाशवाणी हो गई कि यहाँ मेरे पास नौकर नहीं हैं, सो ये दोनों चीजें अपने-आप उठा लाए।"

"आकाशवाणी नहीं, भाई साहब," रमेश ने कहा—"आज-कल नौकर रखने की हिम्मत किसे होती है?"

"क्या तुमने भी अपने नौकरों को, सुग्रीव और बाली को बिदाई दे दी ?" जगन्नाथ ने कहा।

रमेश के सरकारी चपरासी का नाम शोभाराम था, और उसी के भाई बालकराम को उसने नौकर भी रखा था। पहले उन दो भाइयों में मेल था, पर फिर जमीन के बँटवारे के विषय में झगड़ा हो गया था। उनकी लड़ाई के कारण रमेश ने उनके नाम सुग्रीव और बाली रख दिये थे।

रमेश बोला—"सुग्रीव और बाली भला, बिना लड़े कब माननेवाले थे ? मैंने उन दोनों को निकाल दिया। फिर कई नौकर आये। कई माह तक बर्तन वगैरह तोड़-ताड़कर काम सीखा, और फिर चल दिये। यही क्रम साल भर चला, तो उकताकर श्रीमतीजी ने कह दिया कि अब कुछ भी हो, नौकर न रखा जायगा।"

जगन्नाथ ने हँसकर कहा—"यही हाल तो यहाँ भी है।"

तभी जया ने एक प्याली चाय और तश्तरी में नाश्ता लाकर मेज पर रख दिया और कुछ सकुचाते हुए कहा—"नमस्ते!"

जगन्नाथ ने देखा कि आज पत्नी ने अपने बाल अच्छी तरह सँवार रखे हैं और साड़ी भी नई पहनी है। 'पर यह तो उसने सुबह ही कर लिया था,' उसे ख्याल आया। फिर उसने कहा—"हाँ, अभी हम बात किस विषय पर कर रहे थे ?"

"नमस्ते !" रमेश ने उसकी ओर ध्यान न देकर कहा—"बच्चे तो आपके अच्छे हैं।" और फिर छोटे बच्चे को, जो घिसटते-घिसटते आकर जया की साड़ी थामकर उसके पाँव

के सहारे खड़ा होने का प्रयत्न कर रहा था, उठाकर अपनी गोद में ले लिया। फिर उससे पूछा—"क्या नाम है आपका ?"

"इसका नाम मैंने रमेश रख दिया है—तुम्हारे ही नाम पर।" जगन्नाथ ने कहा।

"यह तो तुमने खूब सोचा। कुछ फ्रायड का प्रभाव पड़ा है क्या ?" रमेश ने कहा—"मैं तो जयाजी से भाभी का रिश्ता पक्का कर गया था, पर तुमने तो मुझे बेटा ही बना दिया। अब क्या जयाजी को माँजी कहकर पुकारना पड़ेगा मुझे ?" फिर वह जया की ओर देखकर खूब जोर से हँस पड़ा। मानो उस बड़े रमेश की उसी हँसी से प्रभावित होकर, आठ मास का वह रमेश भी खिलखिला उठा।

"यह आपके कपड़े खराब कर देगा।" जया ने उसे अपनी गोद में लेने का प्रयत्न करते हुए कहा।

"नहीं, नहीं," रमेश ने कहा—"कपड़े अच्छे ही कौन हैं ? सफर में गन्दे हो गए हैं। फिर यह भी तो मैं ही हूँ। मेरा ही तो यह प्रतिरूप है। जैसे युटोपिया में इस संसार के सभी नर-नारियों को अपने ही प्रतिरूप या डुप्लिकेट से मिलने क सम्भावना रहती है, वैसे ही मुझे यह अपना 'डुप्लिकेट' आज मिला है। क्यों जगन्नाथ, एच० जी० वेल्स के युटोपिया के उस डुप्लिकेट की घटना याद है तुम्हें ?"

"हाँ, अँगरेजी के प्रोफेसर की न ?"

"प्रोफेसर सरकार की।"

"अनोखा चेहरा था उसका।"

"बड़ा कुरूप।"

"चौखट।"

"हाँ-हाँ, यही नाम रखा था उसका हम सबने।"

"और उस दिन डुप्लिकेट की बात कहने पर पिछले बेंच के एक विद्यार्थी ने पुकारा था—'चौखट'।"

"दूसरे ने कहा था, 'आपका डुप्लिकेट युटोपिया में।' और सब हँस पड़े थे।"

"मोपासाँ को भी भ्रम हो गया था कि उसका भी एक प्रति-रूप वर्तमान है।" जया ने कहा।

"हाँ, उसी डुप्लिकेट के अस्तित्व की आशंका में तो वह पागल हुआ था।" रमेश बोला।

"यह उसकी प्रखर कल्पना-शक्ति की उपज थी।" जगन्नाथ ने कहा।

जया को भी उस साहित्यिक चर्चा में भाग लेते देख, रमेश ने कहा—"प्राइवेट बी० ए० की परीक्षा देने का आयोजन कर रही थीं न आप? पढ़ाई जारी है क्या?"

"बच्चों से ही फुरसत नहीं मिलती," जया ने कहा—"अब परीक्षा कहाँ दी जा सकती है।"

"सचमुच नौकर के बिना बड़ी तकलीफ है," जगन्नाथ ने कहा—"मैं तो सोच रहा था कि तुम्हें आज यहाँ कैसे टिकाऊँ। बड़ी असुविधा होगी तुम्हें।"

"असुविधा? मैं सब भुगत चुका हूँ। मैंने श्रीमतीजी से घर के सब छोटे-बड़े काम सीख लिए हैं। रसोई बनाना, बर्तन मलना, चौका लगाना, सब सीख चुका हूँ।"

"कुछ बाकी भी है?" जगन्नाथ ने पूछा।

"हाँ, बुनना और काढ़ना उसने अभी नहीं सिखाया है।" रमेश ने हँसकर कहा।

उसी समय बच्चे ने रमेश के हाथ पर उठी हुई प्याली को

एक लात मार दी, और प्याली मेज पर गिर गई। उसे बचाने का प्रयत्न करने के लिए जया ने जल्दी से हाथ बढ़ाया, तो गरम चाय के गिरने से घबराए हुए बच्चे की दूसरी लात से टूटी प्याली के टुकड़े बिखर गए, और एक टुकड़ा जया की दायें हाथ की हथेली और अँगूठे को चीर गया।...

जया के हाथ पर पट्टी बाँधते हुए, जगन्नाथ सोचने लगा "आज जया से खाना न बन पाएगा। अब रसोई का क्या प्रबन्ध होगा ? खैर, हम दोनों सिनेमा देखने जायँगे, और जया और मुन्नी के लिए बाजार से पूरियाँ लेते आयँगे।"

"मैंने 'फर्स्टएड' नहीं सीखा है," रमेश ने कहा "मैं तब तक मुँह-हाथ धोकर कपड़े बदल लूँ।"

पट्टी बाँधना छोड़कर, जगन्नाथ उसे बाथरूम की ओर ले चलने को उठा, तो रमेश हँसकर बोला—"मेरा पीछा करने की आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारे घर के कोने-कोने से पहले ही परिचित हूँ।"

"यह तो बड़े शक की बात है," जगन्नाथ ने हँसकर कहा— "कभी चोरी करने तो नहीं आये थे ?"

"यही समझ लो। क्या कुछ खो गया था पिछली बार ?"

जया सुन रही थी। उसने भी उस उपहास में भाग लेते हुए कहा—"परसों रात को दरवाजे पर खट-खट ये ही तो कर रहे थे।"

"हाँ, चोर मैं ही तो था। सुबह ज्ञात हुआ होगा।"—रमेश ने हँसकर कहा।

जया जोर से हँस पड़ी। जगन्नाथ ने उस हँसी में योग नहीं दिया। वह एक अचरज-भरी दृष्टि से उन दोनों की ओर देखता रहा।

जगन्नाथ बिना जया के चेहरे की ओर देखे हुए, उसके हाथ पर अन्यमनस्क-सा पट्टी बाँध रहा था।

मुन्नी बाहर जाकर, पड़ोसिन की लड़की से कह रही थी—"माँजी का हाथ कट गया। बेबी ने प्याला तोड़ दिया। उसी से कट गया।"

सुनकर वयोवृद्ध पड़ोसी, जो कभी सरकारी अस्पताल के दफ्तर में रहे थे, जगन्नाथ की बैठक में आ गये, और उसे गीले कपड़े के टुकड़े से पट्टी बाँधते देखकर बोले—"यह क्या कर कर रहे हो, मास्टर साहब? जरा-सा टिंचर-आयोडिन लगा कर साफ पट्टी बाँध दो। टेटनस का डर रहता है। खाली गीले कपड़े से काम न चलेगा। मैं जाकर देखता हूँ। शायद मेरे पास कहीं पट्टी रखी हो।"

जगन्नाथ जया को लेकर, उन्हीं के पास पहुँचा। घाव पर टिंचर-आयोडिन लगाकर पट्टी बाँधी गई।

लौटकर वे लोग घर आए, तो रमेश नहाकर लौटा न था। रसोई की ओर से हल्की खटपट की आवाज आ रही थी।

"फिर कुछ शैतानी करने लगा होगा," जगन्नाथ ने जया के सिर के ऊपर-ही-ऊपर देखकर कहा—"मुझे इसका लड़कपन जरा भी नहीं भाता।" यह कहते हुए वह अन्दर की ओर गया।

रमेश रसोई में बैठा परात में आटा गूंध रहा था। दोनों चूल्हों पर पतीलियाँ चढ़ी थीं। उसकी तन्मयता और रसोइए की-सी वेश-भूषा देखकर, जगन्नाथ अपनी हँसी न रोक सका। धोती समेटकर उसने घुटनों तक कर ली थी। नहाकर बाल सँवारे न थे। वे माथे पर बिखर रहे थे। कमीज की बाँहें

कुहनियों तक मोड़ रखी थीं। शायद अभी-अभी सिल पर मसाले रगड़े थे। कंधे पर झाड़न लटक रहा था।

"यह झाड़न तुम्हें कहाँ मिल गया ?" जगन्नाथ ने कहा—"अब तो पूरे बावर्ची लगते हो !"

"तुम्हारा ही झाड़न है," रमेश आटा गूंधते हुए बोला—"रसोई का अच्छा प्रबन्ध करनेवाली स्त्री रसोई में एक झाड़न अवश्य रखती है। देखो, साफ भी कितना है। अम्माजी बर्तनों की तरह रोज झाड़न को भी साफ कर देती होंगी।"

आटा गूंधकर, रमेश ने थोड़ा-सा घी हाथ में लेकर उसके ऊपर चुपड़ दिया।

"घी भी तुमने ढूंढ़ लिया !" जगन्नाथ ने कहा—"मुझे तो ये चीजें कहाँ रखी हैं, यह भी मालूम नहीं।"

"घी-जैसी चीज को अच्छी गृहिणी सदा ताले में बन्द रखती है।" रमेश ने कहा—"इसे मुझे ताला खोलकर निकालना पड़ा।"

"और चाभी भी तुम्हें मिल गई ?" जगन्नाथ ने पूछा।

"हाँ। रसोई की चाभी सदा किसी आले में रखी रहनी चाहिए, जो रसोई के निकट हो और जहाँ बच्चे का हाथ न पहुँचे" रमेश ने कहा—"मुझे यह उस आले में मिली।"

जगन्नाथ रमेश के इस व्यवहार से संतुष्ट नहीं हुआ। यद्यपि उसके मुँह पर मन्द-मन्द हँसी की रेखाएँ स्पष्ट थीं, पर मन में वह अपने मित्र के इस व्यवहार को अपने प्रति एक अन्यायपूर्ण कार्य-सा समझ रहा था।

"तुम्हारा यह लड़कपन कब दूर होगा ?" जगन्नाथ ने कहा, और मन-ही-मन सोचा—'यह लड़कपन ही नहीं, मेरी गृहस्थी में अनुचित हस्तक्षेप भी है।'

रमेश बोला—"मैं सदा लड़कपन को ही जीवित रखना चाहता हूँ। पर ऐसा सौभाग्य हमारा होता कहाँ है कि हम अपने बाल्यकाल को सदा बनाए रख सकें ?"

जया भी तब तक पति के पीछे आकर खड़ी हो गई, अपने सहायतार्थ रमेश को रसोई में जुटे देखकर, भावोद्रेक से उसकी आँखें सजल हो गईं। पर क्षण भर में ही अपने को प्रकृतिस्थ करके उसने कहा—"आपने बहुत कष्ट किया। मैं पड़ोसिन की बहू से पूरियाँ निकलवा लेती। अब मैं लोइयाँ खुद बेल लूंगी। आटा शायद मुझसे न गूंधा जाता, पर अब पूरियाँ तो मैं निकाल लूंगी।"

"पूरियाँ रेल के सफर में बहुत खाई हैं। इसी से तो अपच हो गई है।" रमेश ने कहा—"आज मेरी ही बनाई रोटी खा लीजिए।"

पर जया न मानी। वह भी वहीं आकर बैठ गई, और आटे की परात पर उसने अधिकार कर लिया। उधर रमेश पतीली उतारकर तवा चढ़ा चुका था।

"अच्छा, आप लोई बेल दीजिए, मैं सेंक लूंगा," रमेश ने कहा—"इस तरह रसोई का काम जल्दी निबट जायगा।"

"यही सही।" जया ने रमेश के आग्रह से विजित-सी होकर कहा।

जगन्नाथ को व्यर्थ ही खड़े देख, जया ने लोइयाँ बेलते हुए, पति से कहा—"आप खाना खा लीजिए।"

"नहीं, ऐसा न होगा। सब साथ खाना खायँगे।"

रमेश ने टोककर कहा—"मैं ऐसी गृहिणी नहीं हूँ कि निठल्ले पति का पेट पहले भर दूँ। जगन्नाथ तब तक बच्चों को देखेंगे।"

अपने लिए अपने मेहमान के मुँह से निठल्ला शब्द सुनकर, जगन्नाथ खिसिया गया। मन-ही-मन उसे अपने इस अपमान पर क्रोध भी आया।

जया रमेश के अपने लिए उपयुक्त गृहिणी शब्द की आलोचना करती हुई बोली—"आप गृहिणी तो अच्छी हैं। कौन है आपके गृहस्वामी ?"

रमेश बोला—"दोनों ही मैं हूँ। अपना गृहस्वामी, और अपनी ही गृहिणी।"

"तब आपकी श्रीमतीजी क्या हैं ?" जया ने कहा।

"उसी से तो मैंने यह सब सीखा है," रमेश बोला—"वह भी गृहिणी है, गृहस्वामी भी।"

"पर 'गृहिणी' शब्द ही तो यह बतलाता है, कि स्त्री घर के लिए ही है," जया ने कहा—"भोजन बनाने का काम पुरुषों को शोभा नहीं देता।"

रमेश बोला—"यह सब पुरानी बातें हैं तब की, जब दास प्रथा प्रचलित थी और स्त्रियाँ दासियाँ-सी थीं। उस समय के भारतीय ही क्या, ग्रीक तथा रोमन नीति या दर्शन-शास्त्रों को पढ़ो, तो ज्ञात होगा कि उन्होंने मानव का मानव-द्वारा क्रय-विक्रय करना उचित बतलाया था। ग्रीक फिलासफी तो दास-प्रथा की समर्थक ही है। टारटुलियन ने स्त्री के लिए कहा है, 'वह शैतान का द्वार है, सृष्टि की प्रथम पापिनी और ईश्वरीय आज्ञा को न माननेवाली प्रथम अपराधिनी।' ईसाई धर्म के माननेवाले, जो आज नारी-स्वतंत्रता के समर्थक हैं, स्त्री को दोषी ठहराकर मानवीय दुखों का प्रथम कारण इसे ही मानते हैं। सेण्ट अगस्टस स्त्री के विषय में कहता है कि नारी चाहे माँ हो, चाहे बहिन, उसमें ईव (हव्वा) के स्वजातिगत

दोषों के विद्यमान होने की सम्भावना रहती है। हमें इन प्राचीन दार्शनिकों की इन उक्तियों को दोष न देना चाहिए, क्योंकि धर्म या दर्शन का निर्माण तो समाज के गठन के अनुसार ही होता है। भोजन बनाना यदि पुरुषों को शोभा नहीं देता, तो खाना भी पुरुषों को शोभा न देना चाहिए। तब की स्त्री अब की स्त्री नहीं है, और न तब का पुरुष ही अब का पुरुष है। पुरातन रूढ़ियों के आधार पर स्त्री से चौबीस घंटे घर का काम लेना और स्वयं निठल्ले बैठना तो दास-प्रथा समर्थक भावना का ही अवशिष्टांश है।"

जगन्नाथ दर्शन-शास्त्रों के उस तर्क को बिलकुल ही न सुन पाया। उसका ध्यान तो कहीं और था। वह सोच रहा था; 'ये दोनों पति-पत्नी होते, तो कितना सुखी होता इनका जीवन!' फिर उन दोनों को तन्मयता से काम में जुटे देख, अपनी अकर्मण्यता पर जगन्नाथ को पहली बार खीझ-सी हुई। मन मारे वह मुन्नी को लेकर, बाहर के कमरे में आ गया। पर उसे चैन, न था, मानों उसके पेट में एक सख्त गाँठ-सी पड़ गई हो। मुन्नी को गोद में लिए, जल्दी-जल्दी अपने कमरे का चक्कर लगाते हुए, वह सोचने लगा, 'कब और कैसे इस परिस्थिति का अंत होगा? क्या रमेश एक ही बार मेरे यहाँ आकर इस मकान के कोने-कोने से, छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं के रखने के स्थान से परिचित हो गया था, जब कि पाँच वर्ष से मैं यह सब नहीं जान पाया हूँ?'

शीघ्र ही वह फिर रसोई की ओर आकर, एक नए ही विचार को मन में लेकर बोला—"जया, तुम बच्चे को दूध पिलाओ, लोइयाँ मैं बेल लूंगा।" उसकी वाणी में एक अनोखी तरलता थी। जया उसे मना न कर सकी। उसने रमेश की ओर देखा

कि पति की इस परिवर्तित वाणी का वह क्या अर्थ लगाता है। रमेश उसी की ओर देख रहा था। पर उसने जया कि आँखों से आँखें न मिलाईं। वह निःसंकोच जगन्नाथ से बोला—"जरा हाथ धो लीजिए। लोइयाँ बेलना कठिन काम नहीं है। तुम जल्दी ही सीख जाओगे।"

जया उठ खड़ी हुई। जगन्नाथ लोइयाँ बेलने बैठ गया। बच्चे का रोना सुनकर, जया बाहर की ओर चली आई। रमेश के शब्द—"ऐसे गोल-गोल बनाओ। शाबाश! पलथन ज्यादा न लो। हाँ, यह ठीक है। बस, बहुत पतली न बेलो।"—उसे बाहर कमरे में भी सुनाई दे रहे थे।

खाना परसा गया। छोटा बच्चा सो गया था। शेष चारो जानों ने एक साथ खाना खाया। फिर सबने हाथ धोए। रमेश तब जूठे बर्तनों को पानी के नल के पास, जो आँगन के दूसरे कोने पर था, ले जाने लगा।

जया ने कहा—"ऐसा करोगे, तो मैं बहुत नाराज हूँगी।"

"अकेले मैं हरगिज न करूँगा," रमेश बोला—"इसमें देर ही क्या लगती है? मैं इन्हें रगड़ता हूँ। भाई साहब धोयँगे और आप झाड़न से पोंछती जाइएगा। पाँच मिनट में सब काम हो जायगा।"

"नहीं, नहीं," जया ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"मैं सब ठीक कर लूंगी। इस समय बच्चा सोया है।"

जया रमेश का हाथ पकड़े थी, और रमेश बर्तन उठाने पर तुला हुआ था। जगन्नाथ भौंचक देख रहा था। यह परिस्थिति उसे बड़ी असह्य लगी। ऐसी परिस्थिति से शीघ्र छुटकारा पाने

के लिए उसने कहा—"ठीक तो है, जया, गन्दे पानी से तुम्हारा घाव कहीं पक न जाय। बर्तन हम मल लेंगे।"

पति की उस अनोखी वाणी को सुनकर जया ने उसकी ओर देखा, आँखों में एक असह्य वेदना के-से भाव पढ़कर उसने रमेश का हाथ तत्काल छोड़ दिया। रमेश ने बर्तन मले, जगन्नाथ ने उन्हें पानी से धोया, और जया ने झाड़न से सुखा कर रखा। फिर तीनों एक साथ बैठक में आ गए।

जगन्नाथ सोचने लगा, 'सिनेमा देखने का आज खाना बनने से पहले मैंने प्रस्ताव किया किया था। अब जया को अकेली छोड़कर, रमेश और मैं साथ-साथ जायँगे। पर शायद उसे यह अच्छा न लगे। तीनों एक साथ नहीं जा सकते। मुन्नी को भी ले चलें तो बच्चा सो गया है, उसे यहाँ छोड़ा नहीं जा सकता। मकान में भी किसी को रहना चाहिए।' फिर कुछ सोचकर उसने एक शहीद की-सी उच्च-भावना को मन में लेकर कहा—"जया, तुम बहुत दिनों से सिनेमा नहीं जा सकीं। आज चाहो, तो रमेश के साथ हो आओ। मैं घर पर बच्चों की रखवाली कर लूँगा।"

पति की बात सुनकर, जया के हाथ से पान की तश्तरी गिरते-गिरते बची। उसके लिए इतनी सहृदयता पति ने कभी न दिखलाई थी, और न कभी बच्चों की रखवाली करने की बात ही सोची थी।

"माफ कीजिए!" रमेश ने गम्भीर होकर कहा—"मैंने अभी तक आपको नहीं बतलाया। मेरी बदली अब हैदराबाद को हो गई है। कल सुबह मुझे वहाँ उपस्थित होना है। शाम को बहिन के पास रहूँगा। नौ बजे गाड़ी जाती है। दो घंटे और हैं। तब तक मैं अपने नए अफसर के घर हो आता

हूँ। वे यहीं कायस्थों के मुहल्ले में रहते हैं। सा तबज रहे है। ताँगावाला आता ही होगा। मैंने उसे ठीक सात बजे आ जाने को कहा था।"

"आपने बड़ा धोखा दिया," जया सहसा ही जो बात उस-के मन में आई, उसे बिना सोचे कह बैठी—"आज आपने गाना भी नहीं सुनाया। पहले क्यों नहीं बताया कि आपको इतनी जल्दी जाना है?"

"हाँ, गाना ही तो स्त्रियों का काम है। यही आधुनिक फिलासफी है। वे गाने सब मैंने अपनी पत्नी को सिखा दिए हैं।" रमेश ने कहा—"आज आप लोगों की गृहस्थी में जो हस्तक्षेप किया, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ। यह सब उन गीतों के बदले में सीखा था।"

"तुमने आज मेरी आँखें खोल दीं।" जगन्नाथ गद्गद होकर बोला—"मैं जया के प्रति जो अन्यायपूर्ण व्यवहार करता आया हूँ, दिन-रात उससे काम लेकर भी उसी को डाँटता आया हूँ, अब इसका प्रतीकार करूँगा और घर के सब कामों में हाथ बटाऊँगा।"

जया की आँखें फिर सजल हो गईं।

ताँगा आ गया। और रमेश ने बैठते हुए कहा—"मैं रसोई का काम जानता थोड़े ही हूँ। यह तो उल्टा-सीधा जैसा बन पड़ा. मैंने किया। कुछ बातें भी न हो पाईं।"

"जल्दी आना, रमेश। अगली बार मैं अपने हाथ से रोटी बनाकर तुम्हें खिलाऊँगा।" किंचित् मुस्कराकर जगन्नाथ ने कहा।

"तुम तो मुझे रमेश ही समझ बैठे हो, अपना ही बेटा।" हँसते हुए रमेश बोला—"कैसी भावुकता से पुकार रहे हो।"

ताँगा खड़खड़ाता हुआ, गली को पार कर गया। जया देखती रही।

संध्याकाश में उस समय एक अकेला पक्षी अपने नीड़ की ओर द्रुत गति से पंख मारता उड़ता जा रहा था।

"आओ, कोई गीत सुनाओ।" जगन्नाथ ने अपनी पत्नी का हाथ पकड़कर, उसे तंद्रा से जगाते हुए कहा।

वर्षों के उपरान्त आज यह पहली शाम थी, जब जया को बैठक में आकर पति के सामने बैठकर, गाने का अवकाश मिला था। यह शाम पति-पत्नी को विवाह के उपरान्त की उस मधुर संध्या-सी लग रही थी, जब पहले-पहल जगन्नाथ सरकारी स्कूल में नौकर होने पर जया को इस शहर में लाया था।

———

बड़ा मुकदमा

चौदह वर्ष के सुरेन्द्र का विचार है कि वह अपने बड़े भाई जीवनलाल का, परिवार भर में, सबसे अधिक शुभचिन्तक और हितैषी है। कुटुम्ब की छोटी-बड़ी सभी घटनाओं से शीघ्र परिचित होकर वह अपनी जिम्मेवारी यथाशक्ति निभाने का प्रयत्न करता है; पर कभी-कभी उसकी समझ में नहीं आता कि क्यों उसके बड़े भाई और भाभी उसे निरा बालक ही समझकर उससे वैसा ही बालकोचित व्यवहार करने लग जाते हैं, जैसा कि वे अपने सात वर्ष के लड़के गोविन्द से करते हैं।

उस दिन यह जानकर कि भाई बहुत परेशान हैं, कहीं कुछ भयंकर दुर्घटना अवश्य घटी है, जिसकी गुरुतम व्यग्रता से भाई साहब का चेहरा उतरा हुआ है, और उनका जी किसी से बात करने को नहीं है, सुरेन्द्र का मन भी स्कूल जाने को नहीं था, वह अकारण ही कभी बाहर और कभी अन्दर जा रहा था कि शायद भाई साहब कहें कि आज वह भी स्कूल न जा सकेगा। फिर वह डरते-डरते बैठक के कमरे में गया, जहाँ जीवनलाल हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। मथे हुए तम्बाकू का धुआँ और उसी प्रकार मथे हुए संकल्प-विकल्पों का धुंध-सा उस कमरे में व्याप्त था।

जीवनलाल ने आँखें तरेरकर पहले उसकी ओर देखा, फिर बरामदे में खड़ी उसकी साइकिल पर दृष्टि डालकर बैठक की घड़ी की ओर देखा तो उसे स्पष्ट हो गया कि बड़े भाई साहब को उसका वहाँ पर खड़ा रहना खल रहा है और वह यही

चाहते हैं कि वह स्कूल के लिए देरी न करे। अतः उसने साइकिल उठाई, बस्ता सँभाला और स्कूल को चल दिया। रास्ते में वह सोचता रहा कि परिवार में होनेवाली दादी की मृत्यु तक में वह पिछली बार श्मशान हो आया था। उसको इसके लिए किसी से अनुमति माँगने की आवश्यकता नहीं समझी गई थी। कम्पनी के बड़े साहब को डाँट-फटकारवाली चिट्ठी भी उसके भाई उसे पढ़ने को दे देते हैं। दूकान का कच्चा हिसाब जब पक्की बहियों से मेल नहीं खाता, तो उसके बड़े भाई दोनों बहियों को बैठक के तख्त पर पटककर कहते हैं—अरे सुरेन्द्र, जरा देखना तो, आज यह हिसाब क्यों नहीं मिलता? कच्चे हिसाब और इनकमटैक्सवाले खातों में प्रतिदिन जो अन्तर लाना आवश्यक होता है, वह रहस्यमय और अति पांशु बात भी उससे छिपाई नहीं जाती। पास-पड़ोस के नवागन्तुक लोगों तथा स्त्रियों के अश्लील अतीत की चर्चा भी कभी उसके सम्मुख हो जाए, तो भी आपत्ति नहीं की जाती। पर आज जीवनलाल की तीन दिन की अनुपस्थिति के उपरान्त जो घटना घटी है, वह न जाने कैसी महत्त्वपूर्ण और अनिष्टकारी है कि उस सम्बन्ध में उसके बड़े भाई ने भाभी से भी बात करना, उसके सामने, उचित नहीं समझा।

छोटा-सा कस्बा है। स्टेशन की ओर जानेवाली सड़क पर लड़ाई के जमाने में जो नई बस्ती बसी है, वह अब नए बाजार के नाम से प्रसिद्ध हो गई है। उसके अन्तिम दुमंजिले मकान में जीवनलाल रहते हैं। वे सिगरेट की कम्पनी के स्थानीय एजेंट हैं। नए बाजार के सम्पन्न लोगों में उनकी गिनती है। लड़ाई के दिनों में उनके सिगरेट का व्यापार चमक उठा था। कालेज छोड़कर जीवनलाल नए-नए ही काम में लगे थे, पर

शीघ्र ही कुछ अपनी लगन और कुछ कार्य-कुशलता से उन्होंने देहात में भी इस सिगरेट का प्रचार कर दिया था। दो ही वर्ष में लक्ष्मी की ऐसी कृपा उन पर हुई कि उन्होंने वह दुमंजिला मकान स्वयं खरीद लिया था, जिसमें अब वे रहते हैं और जिसके निचले भाग को ही उन्होंने अपनी कम्पनी के लिए पहले किराए पर लिया था। ऊपर की मंजिल में तब दीनानाथ नाम के एक वकील रहते थे। वे वर्षों से, जब से वह मकान बना था, उसी में रहते आए थे। पर जब जीवनलाल उसके स्वामी बन गए, तो उन्हें उस मकान को छोड़ने पर विवश किया गया, क्योंकि तब केवल नीचे की मंजिल में जीवनलाल की गुजर नहीं हो सकती थी। एक तो सिगरेट की पेटियों के लिए बड़े गोदाम की आवश्यकता थी और दूसरे जीवनलाल भी अब अकेले न थे। उनकी शादी हो चुकी थी। देहात में उनकी दादी रह गई थीं। छोटे भाई का पढ़ने के लिए शहर में आना भी आवश्यक हो गया था।

वकील साहब उस सस्ते मकान को आसानी से छोड़ने को तत्पर न थे। जीवनलाल झगड़ा करना नहीं चाहते थे। उन्होंने पास-पड़ोस के सभी भले आदमियों से वकील साहब पर जोर डलवाया और जब राशनिंग-विभाग का एक गेहूँ का गोदाम पड़ोस में खाली हुआ, तो अपने व्यय से उसकी लिपाई-पुताई कराकर तथा तहसीलदार से मिलकर उसे वकील साहब को दिलवा दिया।

वैसे भी जीवनलाल मिलनसार व्यक्ति हैं। वे जिससे मिलते हैं, सदा हँसकर बात करते हैं। सब मुहल्लेवालों के दुःख-सुख में सम्मिलित होते हैं। नया बाजार में सभी नए परिवार बसे हुए हैं। इसी लिए लोगों के, एक दूसरे के काम-काज, दुःख सुख

सम्मिलित होने में, पुरानी स्मृतियाँ या जाति-बिरादरी का सम्बन्धी पूर्वजों की चलाई हुई प्रथाएँ बाधा नहीं डालतीं। मकान के विषय में जीवनलाल और वकील साहब में जो मन-मुटाव कभी हो गया था, वह भी अब बहुत पुरानी घटना हो गई है और किसी का भी उस ओर ध्यान नहीं है।

वकील साहब का जीवन उसी भाँति चल रहा है। बहुत बड़ा परिवार है। सात बच्चे तो अपने हैं, दो छोटे भाई के हैं, तीन भाञ्जे-भाञ्जियाँ हैं, सबके पालन-पोषण का भार उन्हीं पर है। उस कस्बे में केवल दो कचहरियाँ हैं, एक मुंसिफ की और दूसरी तहसीलदार की। वकील बीस के लगभग हैं। इसलिए वकालत अधिक नहीं चलती। फिर भी उन्हें सदर जाना पसन्द नहीं है। कुछ नए बाजार की तटस्थता और कुछ स्थायी अच्छे मुवक्किलों का प्रलोभन उन्हें इस छोटे कस्बे में रहने को बाध्य कर देता है। युद्धकाल के आरम्भ में वे सोचते थे कि लड़ाई के जोर पकड़ते ही लोगों का व्यापार चमक उठेगा, लेन-देन बढ़ेगा, वकालत में तरुणाई आयगी, वह पनप उठेगी। पर वैसा कुछ नहीं हुआ। आशा बनी रही कि लड़ाई के बाद व्यापार पर से नियंत्रण हटेगा, यातायात को स्वच्छन्दता प्राप्त होगी, सैनिकों के अब तक के स्थगित मुकदमों के कारण वकीलों को फुरसत न रहेगी, उनकी वकालत में तब प्रौढ़ स्थूलता आ जायगी, वे केवल खास-खास मुकदमे ही लेकर शेष अपने "जूनियर" को दे देंगे। पर ऐसा भी कुछ नहीं हुआ। अब उनका विचार है कि उनकी वकालत में अनुभव की परिपक्वता आ गई है, नए वकील उनके सामने टिक नहीं सकेंगे, कभी-न-कभी उनकी प्रतिभा फल प्रदान करेगी, उनकी फीस की रकम दिन दिन बढ़ती रहेगी, शीघ्र ही घर में इतना रुपया जमा हो जायगा

कि नए बाजार में वे अपनी कोठी बना लेंगे। नहर के किनारे वह स्थान उन्हें बहुत प्रिय है, जहाँ पर सिंचाई-विभाग का एक ट्यूबवैल बन गया है। नोटिफाइड एरिया के इंस्पेक्टर से भी उस सम्बन्ध में वे बात कर चुके हैं। जब कभी टहलने जाते हैं, तो उस कुएँ के निकट चुपचाप कुछ क्षण अपने भवन की कल्पना में अवश्य बिताते हैं। एक-दो बड़े मुकदमों के मिल जाने की देर है, नहीं तो अब तक मकान की नींव पड़ जाती।

जीवनलाल के प्रति वकील साहब के मन में एक अवज्ञापूर्ण भावना स्थान कर गई है। सोचते हैं कि कल का वह अकिंचन विद्यार्थी आज मुहल्ले का रईस बन बैठा है। पर जीवनलाल की कुछ बातें उन्हें बड़ी भाती हैं; उसका परिवार छोटा है, केवल एक लड़का है, गोविन्द। हाँ, उसका नाम याद आते ही उनसे उसकी तारीफ किए बिना नहीं रहा जाता। अभी केवल सात-आठ वर्ष की उम्र का है पर है, बड़ा सुशील और सुन्दर। जीवन-लाल की पत्नी का स्वास्थ्य अच्छा है। वह वकील साहब की पत्नी की भाँति चिड़चिड़े स्वभाव की नहीं है। देखने में भी वह सुन्दर है; उसके छरहरे शरीर पर बालिकाओं की-सी चपलता अब भी विद्यमान है। जो भी कपड़ा पहनती है, उसे खूब फबता है। आँखों की पलकें भारी हैं और पुतलियों से अबोध सरलता झलकती है। उसका परिवार सन्तुष्ट है। कहीं कोई उत्तेजना, कलह, मारपीट नहीं होती। ऐसा जान पड़ता है कि मानो शान्ति का उस घर में अटल साम्राज्य है। उसी घर में जब वकील साहब का परिवार रहता था, तो उसकी माँ और घरवाली में दिन-रात लड़ाई रहती थी। सुबह उठते ही बच्चे बासी रोटियों के लिए लड़ पड़ते थे। दिन में कुँजड़िन, महरिन, ग्वालिन जाने कौन-कौन लेने-देने के बारे में गरमा-गरम बहस के उपरान्त

रोने-पीटने लग जाती थीं। रात को कभी-कोई बच्चा जाग पड़ता था, तो कभी-कोई बच्चा चारपाई से नीचे लुढ़क जाता था। वकील साहब को नींद भी पूरी न आ पाती थी। पर जब से जीवनलाल उस मकान में रहने लगे हैं, मानो सब कुछ बदल गया है। उसके सभी कार्य शान्त और व्यवस्थित ढंग से होते हैं। दूकान जाते हैं तो समय पर, देहात की दूकानों से रुपया वसूल करने जाते हैं तो वह भी समय पर। प्रत्येक कस्बे की यात्रा के लिए उनके दिन निश्चित हैं। महीने के पहले सप्ताह में वे तीन दिन पूर्व की ओर के कस्बों से वसूली करते हैं। दूसरे सप्ताह में तीन दिन उत्तर-पश्चिम के कस्बों में घूम आते हैं। महीने के अन्तिम सप्ताह में दो दिन दक्षिण की ओर बिताकर फिर वे कम्पनी के बड़े दफ्तर में अपना मासिक हिसाब चुकता कर आते हैं। उनका छोटा भाई सुरेन्द्र स्कूल भी जाता है और भाई की अनुपस्थिति में दूकान का काम भी देख लेता है, यद्यपि उम्र में वह वकील साहब के बड़े, किन्तु निकम्मे लड़के जीवन से छोटा ही है।

अपनी निश्चित नपी-तुली दिनचर्या यद्यपि जीवनलाल को चक्के के बैल की आवृत्ति-सी निरानन्द और नीरस लगती है; किन्तु वकील साहब को उसी में जीवन की सफलता दृष्टिगोचर होती है। उनके अचेतन मन पर इसी लिए कल के दीन विद्यार्थी और आज के रईस जीवनलाल के प्रति उपेक्षा की भावना के अतिरिक्त एक प्रकार के सम्मान की भावना भी अंकित है, जिसे उनका अचेतन मन कभी स्वीकार करने को तत्पर नहीं होता।

उस दिन जीवनलाल सुबह की गाड़ी से लौटनेवाले थे। वह महीने का अन्तिम सप्ताह था और वे अपनी कम्पनी के बड़े

दफ्तर में माहवारी हिसाब चुकाने गए हुए थे। तीन दिन उन्हें वहाँ लगते थे, चौथे दिन सुबह आठ बजेवाली गाड़ी से वे नित्य लौट आते थे।

इस बार कम्पनी के मैनेजिंग डाइरेक्टर ने पिछले हिसाब के साथ-साथ चालू हिसाब को भी लाने की आज्ञा दी थी। इसी लिए जीवनलाल घबड़ाए हुए थे। यद्यपि शान्त प्रकृति के जीवनलाल ने, जो अपने कारोबार की बातें अपने ही तक सीमित रखते थे, अपनी पत्नी से भी उस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा था, किन्तु उसे ज्ञात तो था ही कि पिछले कई महीनों से उनका पारिवारिक व्यय कम्पनी से मिलनेवाले वेतन और कमीशन से अधिक होता जा रहा है। दादी की तेरहवीं में जो रुपया लगा, वह कम्पनी के ही हिसाब से व्यय हुआ था। फिर सुरेन्द्र बीमार पड़ गया था। उसकी लम्बी बीमारी में बहुत सा रुपया डाक्टरों की फीस और दवाओं में उड़ गया। अपनी आय बढ़ाने के लिए उसके पति ने कम्पनी की राय के बिना ही गुड़ की आढ़त का काम शुरू किया था; पर गुड़ के निर्यात से एकाएक प्रतिबन्ध हट जाने से उसमें जीवनलाल को हजार-बारह सौ का घाटा हो गया था। चालू महीने के तीन सप्ताह का हिसाब मिलाकर कम्पनी के पिछले महीने का हिसाब किसी भाँति चुकाया जा रहा था। पर यह भी अब सम्भव होना कठिन था, क्योंकि सिगरेट की बिक्री दिन-प्रति-दिन घटती जा रही थी और जीवनलाल के कमीशन का रुपया भी उसी अनुपात से घटता जा रहा था।

पड़ोसी वकील भी उस दिन आठ बजेवाली गाड़ी से लौटे थे। वकीलाइन कुछ फल और मिठाइयाँ लेकर माया के पास आई और सीधे रसोईघर के सामने बैठ गई। अधेड़ आयु की

वह सारी अपनी काली धोती और नीले सलूके में उस समय अधिक प्रसन्न और सुन्दर दीख रही थी। पर माया के सम्मुख बैठकर आँचल से मुँह पोंछकर और नाक को बजाकर साफ करते हुए, यह दिखाते हुए मानो वह अभी-अभी रोकर आई है, बोली—"बहिन, मुझे बड़ा दुःख है, पर किया क्या जाए ?" उसे तो यह विश्वास था कि उस दुर्घटना का पता अभी माया को नहीं लगा है; किन्तु उस बात को रहस्यमय ढंग से सीधे स्वभाव की उस स्त्री पर प्रकट करके वह उस समय अपने कृत उपकार का मूल्य बढ़ाने का प्रयत्न कर रही थी।

माया उसका तात्पर्य न समझ सकी। आश्चर्य से बोली—"क्यों, क्या बात है ? कुशल तो है बहिन ?"

"तुमको अभी तक मालूम नहीं हुआ क्या ?" वकीलाइन ने फिर जल्दी-जल्दी नाक बजाकर कहा—"जीवन बाबू खयानत के मामले में गिरफ्तार हो गए हैं। मुझे भी अभी उनसे मालूम हुआ।"

उस समय सुरेन्द्र को रसोई की ओर आते देखकर माया ने धोती के छोर से जल्दी से अपने आँसू पोंछ लिए। धीरे से वकीलाइन से, जो उस समाचार को सुरेन्द्र को भी सुनाने को आतुर हो, उसी की ओर देख रही थी, कहा—"बहिन, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, बच्चों के सम्मुख कुछ न कहना। इस सुरेन्द्र से मुझे बड़ा डर लगता है। उस दिन दंगे के कारण इसके बड़े भाई रात नौ बजे तक नहीं आ सके थे। यह कर्फ्यू की परवाह न करके, मेरे लाख मना करने पर भी बाहर निकल गया। सारे शहर में घूम-फिरकर आधी रात को लौटा। हँसकर कह रहा था कि कहीं गोलियाँ चल रही थीं और यह लोगों की टाँगों के नीचे रेंगता हुआ चला आया।"

गोविन्द ने उस-समय खिड़की के बाहर देखकर कहा—"चाचा, पिताजी आ गए। वह आ रहा है बल्लू का ताँगा।"

जीवनलाल के आने पर बच्चों का सदा का-सा उत्साह देखकर वकील साहब की पत्नी हतप्रभ होकर उठकर जाते हुए सोचने लगीः तभी तो मैं उनसे कहती हूँ कि हमारा वह तहसील के सामनेवाला मकान अच्छा था, एकान्त और शान्त। ये कैसे निर्लज्ज लोग हैं, पति गिरफ्तार हुआ है, पत्नी उसी के भाई से यह बात छिपाना चाहती है। उस अपराधी और जमानत पर छूटे हुए कैदी के लौटने पर खुश ऐसे हैं, मानो वह कोई बड़ा बहादुरी का काम करके लौटा है।

घर का सामीप्य और उसका वातावरण इतना सुखद और सुन्दर है कि उस क्षण जीवनलाल अपनी सारी चिन्ता से मुक्ति पा गए। उन्हें भास हुआ, मानो सब कुछ पहले जैसा है, कहीं कुछ हुआ ही नहीं। वे सदा की भाँति कहीं, किसी एजेंसी का हिसाब देखकर मानो कई दिन होटलों का नीरस भोजन करके तथा हलवाइयों की गरिष्ठ पूरियों से अजीर्ण का रोग लेकर लौटे हैं और अब घर आते ही उनका वह अपच का रोग, हलका-हलका शिरशूल, पत्नी के बनाए सुस्वादु भोजन की गन्ध से ही ठीक हो गया है; अब नहाते ही उनकी भूख जागरित हो जायगी, सारी थकान क्षण भर में मिट जायगी। पर दूसरे ही क्षण उन्हें भय और चिन्ता ने आ घेरा। वे सोचने लगे, शायद इस घर में अब यह मेरा अन्तिम बार लौटना है। मैं आज कितनी बड़ी विपत्ति का बोझ सिर पर लादे लौटा हूँ।

पत्नी की विवर्ण मुद्रा को देखकर उन्होंने पहले तो सोचा कि उसे सब कुछ ज्ञात हो गया होगा। कपड़े खोलकर जब वे

रसोई की ओर से अपने नहाने के कमरे में प्रविष्ट हुए, तो उनकी दृष्टि ब्राह्मण के लिए परोसी हुई सीधे की थाली पर पड़ी। उन्होंने सोचा, कल एकादशी या पूर्णमासी-सा कोई पर्व होगा और निराहार व्रत के कारण ही पत्नी का चेहरा उतरा हुआ है।

सब लोग नित्य की भाँति साथ-साथ खाना खाने बैठे। जीवनलाल की इच्छा कुछ भी खाने की न थी। पर बच्चे और पत्नी उन्हीं की ओर देख रहे हैं, इसका उन्हें ध्यान था, इसलिए जबरदस्ती कुछ-न-कुछ गले के नीचे उतार रहे थे। उनकी दृष्टि कभी-कभी चूल्हे पर पड़ती और कभी बच्चों की थाली पर। वह दृष्टि अन्धे की-सी शून्य दृष्टि थी। उनकी आँखों के स्नायु उन सब वस्तुओं की आकृति को ग्रहण नहीं कर रहे थे, न उन्हें दिखाई दे रहा था। पत्नी यह सब देख रही थी। मन-ही-मन पति की उस बेचैनी को समझकर भी वह अपने बच्चों को शान्त भाव से खाना देती रही। उसने सीधे पति की ओर देखना छोड़ दिया। वह अब केवल उनकी गति-विधि की ओर ध्यान देकर यह पता लगाने का प्रयत्न करने लगी कि उनके ऊपर क्या बीत रही है। पति की उस शून्य दृष्टि से अपनी दृष्टि मिलाने का उसे साहस नहीं हो रहा था।

(२)

खाना खाकर जीवनलाल नित्य की भाँति देर तक हुक्का गुड़गुड़ाते हुए पत्नी के हाथ से लगे पान की प्रतीक्षा करते नहीं रहे। ज्यों ही सुरेन्द्र और गोविन्द स्कूल गए, जीवनलाल भी उठकर अन्दर आ गए। कोट पहनकर वे बाहर जाने को तत्पर हो गए। माया को आशा थी कि वे पान के लिए उसे अवश्य याद करेंगे। पर आज जेब टटोलकर और यह जान लेने पर

थी कि पान का डिब्बा जेब में नहीं है, उन्होंने पान नहीं माँगे और सीधे बाहर निकल गए। मार्ग में उनको पड़ोसी वकील मिल गए। जीवनलाल कहना चाहते थे कि आज दूकान का अन्तिम दिन है, आज उसे कम्पनी के किसी दूसरे व्यक्ति को सौंप देना है। पर वह कुछ भी स्पष्ट न कह सके। वकील साहब उस संकोचशीलता का अर्थ अपने ही पक्ष में लगाकर बोले—"हाँ, हाँ, कोई बात नहीं, जल्दी क्या है ? आज अवकाश नहीं तो कल सही।"

जीवनलाल को तब याद आ गया ,कि चाबियाँ लाना भूल गए हैं। लौटकर घर के अन्दर प्रविष्ट हुए और पत्नी से बोले—"चाबी के उस बड़े गुच्छे को तो देना। आज दूकान का चार्ज देना है। बस, आज से दूकान से भी छुट्टी मिली।"

पत्नी टुकुर-टुकुर उनकी विकृत मुद्रा और रुलाई आ जाने के कारण टेढ़े होते हुए उन होठों को देखती रही। उसे उस समय पति की ही भाँति रुलाई नहीं आई। बोली—"जाने दो, कुछ और कर लेंगे। इतनी-सी बात से आप क्यों घबरा रहे हैं ? कम्पनी की नौकरी न सही, और भी तो बहुतेरे काम हैं।"

इतना सब कहने का साहस उसे इसलिए हुआ कि उसने सोचा—'चलो, यहीं पर जाकर आफत टल गई। दूकान का प्रबन्ध इनके हाथ से वापस ले लिया गया, इतना ही बस हुआ। वह पकड़-धकड़ की बात शायद निरी गप्प थी।' पर पति कुछ और स्पष्टता से बातें करेंगे, इसलिए कुछ देर वह उनके निकट खड़ी रही।

जीवनलाल झुँझलाए हुए थे। पत्नी को खड़ी देखकर

बोले—"देती हो चाबियों का गुच्छा, तुम्हें तो कुछ सुनाई ही नहीं देता।"

पत्नी की धैर्यपूर्ण शिक्षा की बात से मन-ही-मन उनकी झुँझलाहट बढ़ने लगी कि उनकी दुःखपूर्ण अवस्था की गुरुता को उसने समझा नहीं।

पत्नी रुकी रही, आगे नहीं बढ़ी। पति की खीझ की ओर उसका ध्यान न था, अपनी असीम व्यग्रता के कारण वह बोली—"और तो कुछ नहीं हुआ न? मैं तो मारे भय के काँप रही हूँ। आज सुबह जब से बकौलाइन ने वह बुरी खबर सुनाई कि तुम पकड़ लिए गए थे, मेरे तो तभी से हाथ-पाँव फूल गए।"

"सब जान-बूझकर भी कुरेद-कुरेदकर वही बात दुहरा रही हो।" पति ने झिड़ककर कहा—"लाओ भी, तुम चाबियाँ देती हो कि बहस करती रहती हो, ग्यारह बजे दूकान पर पहुँच जाना है।"

पत्नी ने रुआँसी होकर चाबियाँ निकालीं और पति के हाथों में दे दीं, यद्यपि उसकी इच्छा उन्हें उनके हाथ में देने की नहीं, जोर से पटककर उनकी ओर फेंक देने की हो रही थी। पति के व्यवहार से माया को बड़ा दुःख हुआ। मन-ही-मन उसने सोचा—'होने भी दो जो कुछ हुआ, उससे मुझे क्या प्रयोजन? मैं इतनी आतुरता से उनसे बात पूछ रही हूँ और वे काट खाने को दौड़ते हैं। मानो मैंने ही इनका अनिष्ट किया। मैं अब कुछ न पूछूँगी।'

जीवनलाल ने चाबियाँ लीं और जल्दी से बाहर निकल गए।

उस शाम नित्य की भाँति जीवनलाल सात बजे दूकान से लौट न सके। उस नए शंकित एजेंट को, जो रोकड़ की प्रत्येक

पंक्ति को दो-तीन बार पढ़कर भी फिर-फिर पीछे के हिसाब से मिलाना न भूलता था, सब कुछ समझाने में रात के दस बज गए।

लगभग साढ़े दस बजे वे घर पहुँचे। यद्यपि जाड़ा कड़ाके का पड़ रहा था और घर आते-आते जीवनलाल के हाथ ठिठुर गए थे; किन्तु सुरेन्द्र और गोविन्द अब तक उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे थे। आहट पाकर गोविन्द नित्य की भाँति उछलता-कूदता उनसे मिलने दरवाजे तक गया और कमीज की बाँह खींचता हुआ अपने पिता से लिपटता हुआ, अन्दर आया। शायद आज भी कोई हिसाब की कापी अथवा लाल-लाल बही को भाई साहब उसकी तेज मैथेमेटिक्स का सहारा लेने दूकान से साथ लाए हों, यह सोचकर सुरेन्द्र भी बरामदे तक जाकर उनका स्वागत करने लगा; केवल माया धीरे से उठकर रसोई की ओर चली गई।

बच्चों से दो-एक मीठी बातें कहकर और यह दिखलाते हुए कि मानो कुछ हुआ ही नहीं, जीवनलाल ने उन्हें सो जाने को कहा। गोविन्द तो तत्काल रजाई के अन्दर घुस गया, पर सुरेन्द्र को सन्तोष न हुआ। भाई के अजीब बिगड़े चेहरे को देखकर उसे अपनी असमर्थता पर बड़ी ग्लानि हुई। चारपाई पर लेट-कर एक बार उसने अपने शरीर को रजाई से ढँक लिया। उसका मन हुआ कि खूब रो-रोकर वह जोर से सिसकियाँ भरने लगे, तो शायद भाई साहब उसे पुकारेंगे और उसके रोने का कारण जानना चाहेंगे। पर फिर ध्यान आया कि उसे दुःख तो कुछ भी नहीं है; वह तो भाई साहब के दुःख का कारण जानना चाहता है। उनका अज्ञात दुःख ही उसका दुःख है। कैसे उनका दुःख उसको ज्ञात होगा? वह भाई साहब के लिए क्या नहीं कर सकता? यदि वे बीमार हों तो वह अपनी

अत्यधिक प्रिय परीक्षा की परवाह न करके भी रात-दिन उनकी सेवा-शुश्रूषा में लग जायगा। यदि कम्पनी के मैनेजर से कोई काम हो तो वह रात की ही गाड़ी से अकेले उनके पास जा सकता है। गाँव में कोई काम हो तो भी वह भूत-प्रेत की कुछ भी चिन्ता किए बिना रात-ही-रात दस कोस पैदल जा सकता है। बिस्तर पर लेटे-लेटे वह अपने साहसपूर्ण कार्यों के स्वप्न देखने लगा। नींद उसकी कल्पना में अनेक साहसपूर्ण कृत्यों के ताने-बाने बुनने लगी। तभी स्वप्न में वह, अपने भाई को काटनेवाले कुत्ते को मारने के लिए दौड़ा, तो कुत्ता तत्काल शेर में परिवर्तित हो गया। वह शेर से लड़ पड़ा। सरकस के खिलाड़ी की भाँति उसने जोर से शेर को चाबुक मारकर काबू में कर लिया। पर शीघ्र ही एक चीता उसकी ओर बढ़ता हुआ आ गया। चीते ने उसी के गले की ओर अपना पंजा बढ़ाया। सुरेन्द्र जल्दी से शेर की पीठ पर जा बैठा। पर शेर ने उसे अपनी पीठ पर बैठने नहीं दिया। तब उसने अपने भाई साहब से जल्दी भाग जाने को कहा और स्वयं वह शेर और चीते के बीच में कूद पड़ा कि जितनी देर में वे दोनों उसे अपने मार्ग हटाएँ, उसके भाई को भाग जाने का अवसर मिल जाए। उस समय एक भयंकर प्रकम्प के उपरान्त उसकी नींद टूट गई और अपने पसीने से लथपथ शरीर को देखकर उसे जब यह ध्यान आया कि वह स्वप्न देख रहा था, तो उसे बड़ी ग्लानि हुई कि वह भाई साहब के दुःख को भूलकर इतनी जल्दी सोने लग गया था। अब फिर जल्दी नींद न आ जाय, यह सोचकर उसने रजाई को बिस्तर के एक कोने पर रख दिया और कान लगाकर सुनने का प्रयत्न करने लगा कि देखें, खाना खाते समय भाभी और भाई साहब में क्या बातें होती हैं।

खाना आ गया जीवनलाल ने एक ग्रास उठाकर मुंह में डाल लिया। तब पराठों की चलथी और दोनों कटोरदानों में रखी तरकारियों को देखकर उन्हें ध्यान आया कि भोजन अकेले उन्हीं के लिए नहीं है। अभी तक माया ने भी न खाया होगा। वे भूल गए कि पक्का खाना बना है और पत्नी भी साथ खायगी। अब अपनी बगल में चारपाई पर ही पत्नी को बैठने का संकेत करके कहा—"आओ, यहीं बैठ जाओ। क्या हर्ज है?"

इस वाक्य में नित्य की-सी स्वाभाविकता थी। पति, पत्नी की रूढ़वादिता देखकर, जो कभी भी चारपाई पर भोजन करने को तत्पर न होती थी, अपने साथ ही भोजन कराने के लिए नित्य ही ऐसा आग्रह करते हैं। आज भी इस वाक्य को सुन-कर माया मन-ही-मन प्रसन्न हो गई। वह चारपाई पर तो न बैठी; किन्तु निकट ही पड़े स्टूल को खींचकर पास ही बैठ गई और उत्साहित होकर भोजन करने लग गई।

मेथी के उन पराठों को, जो जाड़े के दिनों में जीवनलाल को अत्यधिक प्रिय थे, भूसे की भाँति दाँतों से रौंदकर जीवन-लाल खाने लगे। बातें आगे न बढ़ीं। माया मन-ही-मन यह भ्रम करने लगी कि गेहूँ के आटे के स्थान पर उसने भूल से बाजरे के आटे का तो पराठों के लिए उपयोग नहीं कर दिया, जो पति को इतनी बार पानी पीकर ग्रास गले के नीचे उतारना पड़ रहा है। पर ऐसा कुछ न था।

एक घूँट पानी और पीकर जीवनलाल ने कहा—"दूकान आज उस नए एजेंट को सौंप दी है, बड़ा शक्की है। थोड़ा-सा हिसाब और देर इतनी लगा दी।"

माया न बोली । उसे प्रातःकाल किए अपने निश्चय का स्मरण था।

अपनी व्यग्रता में जीवनलाल ने पत्नी के भाव की ओर ध्यान न देकर कहा—"क्या बताऊँ, माथुर साहब (मैनेजर) ने इस प्रकार अचानक धोखा देकर हिसाब मँगाया कि मैंने सच्ची बात कह दी कि कुछ रुपया मुझसे उठ गया है। उसका फल यह हुआ कि मुझे कुछ कहने-सुनने का भी अवसर नहीं दिया गया। जिन बाबुओं के सम्मुख मैंने वह बात कही थी, उन्हीं के बयान लेकर मुझे पुलिस के हवाले कर दिया था। इधर दूकान छूट गई और उधर मुकदमा मेरे ऊपर चलायँगे।"

माया का दिल बैठ गया। इतनी बड़ी विपत्ति का समाचार सुनकर और यह सोचकर कि पति अकेले ही इस दारुण व्यथा के बोझ को वहन कर रहे हैं, उसकी आँखें डबडबा आईं। पर दूसरे ही क्षण उसने अभिमानपूर्ण भावना से सोचा—'आज सुबह यही तो मैं इनसे पूछ रही थी। वकीलाइन तक को ये बातें ज्ञात हो गईं और मुझे यह सब कहने में इन्हें संकोच हुआ। मानो मैं यह सब जानने योग्य न थी।' इसलिए एक कठोर पराएपन का-सा भाव उसने अपनी मुद्रा पर धारण कर लिया।

पत्नी की उस गुमसुम मुद्रा को पति ने अब देखा। चारों ओर छटपटाता हुआ किसी भी आश्रय की खोज में भटकता हुआ उनका मन माया के इस निर्दय व्यवहार से और भी विकल और कुपित हो गया। पत्नी की ओर फिर एक करुण दृष्टि से उन्होंने देखा कि शायद मेरी आँखों में व्यथा की

स्पष्ट छाप देखकर वह कुछ पसीजे, पर माया ने पराठों और तरकारी पर से अपनी दृष्टि न उठाई।

अब अपने अन्यथा प्रिय भोजन को ही निकट पा, उसी पर सारा दोष मढ़कर अपना क्रोध निकालकर जीवनलाल ने कहा—"इतनी देर तक बैठी रहीं तुम? क्या एक रसदार तरकारी या दाल तुमसे न बन सकती थी? पक्का खाना खाते-खाते दाढ़ें दर्द करने लगी हैं। तुमको कुछ ध्यान भी रहता है, जंगली औरत, कब सीखोगी तुम खाना बनाना?"

माया ने बरबस उमड़ते हुए आँसुओं को कठिनाई से रोका। कहाँ तो वह उस दुर्घटना का पूरा विवरण सुनने को उत्सुक थी, सुनकर मकान अथवा सोने के कड़ों को बेचने का अपना सुझाव देने को उद्यत हो गई थी, कहाँ यह फटकार उस पर पड़ गई।

पति ने चार-पाँच ग्रास और निगले, पर माया उसी भाँति बैठी रही। पति को चिढ़ाने के लिए उसने स्वयं खाना छोड़ दिया। निश्चल-सी वह अपने पैरों पर दृष्टि जमाए रही। जीवनलाल का क्रोध बढ़ता ही गया। सोचा—'विपत्ति का मारा मैं अब, इस आधी रात को, इसे मनाने बैठूँगा। एक तमाचा खींचकर जमा दूँ? या फिर तरकारी को इसके सिर पर उँडेल दूँ?' यह सोचकर वे क्रोध से दाँत पीसने लगे।

उस क्रोधाग्नि में उतावले होकर वे एकदम चारपाई से उठे और थाली पर जोर का झपट्टा मारा। मेज गिर पड़ी। थाली तो उलट गई, पर थोड़ा-सा साग उनके हाथ पर आ गया। उसे जोर से पत्नी की गोद में पटककर वे चिल्लाए—"खाना तुम्हें खाना ही न था तो बनाया क्यों?"

पत्नी ने मेज अलग रख दी, जमीन पर बैठकर बिखरे हुए खाने को थाली में समेटने लग गई और बाएँ हाथ की बाँह से वह आँसू भी पोंछती जाती थी।

जीवनलाल और भी चिल्लाकर कुछ कहने को हुए, पर तत्क्षण ध्यान आया कि बच्चे अभी सोए न होंगे, वे मेरे इस व्यवहार से न जाने मन-ही-मन क्या सोचेंगे। इतने वर्षों के वैवाहिक जीवन के उपरान्त यह पहला अवसर था, जब कि जीवनलाल ने अपनी पत्नी पर हाथ उठाया था। अपने असभ्य व्यवहार पर उन्हें ग्लानि होने लगी। अब वे भावावेश में कमरे का चक्कर लगाने लगे। दरवाजे के सामने ही बरामदे में कोई थाली जैसी वस्तु चमक रही थी। वह क्या रखा है, यह जानने के लिए वे अपनी चारपाई से देहली तक गए। पर बीच ही में अपना वहाँ तक जाने का कारण भूलकर फिर चारपाई तक लौट आये। फिर चारपाई के पास पहुँचकर पीछे मुड़कर देखा तो थाली-जैसी उस वस्तु की चमक उनकी आँखों पर पड़ी और उसे देखने वे फिर देहली तक गए, पर इस बार भी अपना उद्देश्य भूल गए और बीच ही में कुछ और सोचकर लौट आये। वहाँ पर आकर उन्हें फिर थाली का ध्यान आया। इस प्रकार तीन-चार चक्कर लगाकर उन्हें ख्याल आया—ओ हो, बड़ी गलती हो गई। पत्नी का आज भी व्रत होगा। सुबह शायद उसने खाया न था; अभी वह मेरे साथ खाने बैठी होगी। बाहर वह आरती की थाली या कुछ चन्द्रमा को चढ़ाया गया नैवेद्य तो नहीं है? यही होगा! मैंने उसे खाना खाने भी नहीं दिया। ऐसा असभ्य व्यवहार मैंने उससे किया और कह रहा हूँ मैं उसे ही असभ्य और जंगली।

एक उच्छ्वास लेकर वे फिर चारपाई पर बैठ गए। पत्नी

उनके पाँवों के पास ही थाली को पकड़े बैठी थी। यद्यपि बिखरा हुआ खाना उसने बटोर लिया था; पर उठने को जी नहीं चाहता था। थोड़ी देर दोनों चुपचाप बैठे रहे। दोनों निःस्पन्द अपने-अपने पश्चात्ताप से विजड़ित-से निश्चल थे। दोनों मन में यही सोच रहे थे कि एक-दूसरे से तत्क्षण प्यार की बातें कहकर क्षमा-याचना करके सुलह कर ली जाए। पर पत्नी को लज्जा आ रही थी और जीवनलाल भी संकोच से गड़े जा रहे थे। एक क्षण के उपरान्त शायद माया ही क्षमा माँगती, क्योंकि जीवनलाल के पाँव उसके हाथों के इतने निकट थे कि उन्हें पकड़ने का लोभ उसे हो रहा था। पर जीवनलाल से न रहा गया। अपना बायाँ हाथ पत्नी की ठुड्ढी की ओर बढ़ाकर उसका स्पर्श करते हुए उन्होंने कहा—"माया।"

हाथ से स्थानान्तरित वायु का क्षीण स्पर्श ही या उस बाँह की उठती छाया ही माया के कृत्रिम सुप्त क्रोध को फिर प्रदीप्त कर उठी। उसने पति का हाथ बीच ही में रोक लिया, कहा—"जाने भी दो अपने दुलार को। मुझे नहीं चाहिए यह सब। तुम तो मुझे एक निर्जीव पदार्थ समझते हो। आज सुबह तुमने मुझे महरिन के सामने वैसे फटकार दिया और इस समय मुझे मारने दौड़े। अपने इन कपड़ों और जूतों का तुम्हें अधिक ध्यान रहता है, मेरा काम।"

ये बातें उसने दिल से नहीं कही थीं। सुबह की बातचीत के समय महरिन उसके पास ही खड़ी थी, यह बात उसने तत्काल सोच ली थी। वह कहना तो दिल से यही चाहती थी कि आप सचमुच हमारे लिए यह दुःख पा रहे हैं। पर उसकी एक भावना ने कहा—'लो, अब नाराज होने की बारी तुम्हारी है। इस अधिकार का पूरा उपयोग कर लो।'

एक फीकी कड़वी हँसी अपनी मुद्रा पर धारण करके जीवन-लाल हाथ मलने लगे। फिर चिपचिपे हाथों को देखकर ध्यान आया कि वे अपने हाथ धोना भूल गए थे। माया में प्रतिहिंसा की भावना वर्तमान थी। पति जब हाथ धोने के लिए उठे, तो देहली के पास ही रखे हुए गरम पानी के लोटे और तश्त की ओर संकेत करना वह भूल गई। उस जाड़े की रात में पति को केवल एक पतली कमीज और धोती पहने ही बरामदे को पार करके गुसलखाने तक नंगे पाँव जाते देखकर उसे अपनी गलती का ध्यान हुआ। झट उठकर वह दरवाजे के पास गई और बोली—"पानी यह है, यहीं हाथ धो लीजिए।"

आज्ञापालक रॉबॉट की भाँति जीवनलाल ने बरामदे से लौटकर फिर बरामदे में आकर हाथ धोए। पति के हाथ मे तौलिया देकर माया भी उसी पानी से हाथ धोने बैठी। पर थोड़ा-सा पानी हाथ में गिरा था कि वह सी-सी करती हुई अपना हाथ खींचकर बैठ गई। पानी इतना गर्म था कि सहा न जा सकता था। माया तब अपने हाथ धोने के लिए गुसल-खाने की ओर चली गई। उसे आश्चर्य हुआ कि इतने गरम पानी से हाथ धोकर भी पति ने कुछ भी नहीं कहा। वे अब भी बराबर अपने सूखे हुए हाथों को तौलिए से रगड़ते जा रहे थे। माया सोचने लगी—'उनको यह भी ध्यान नहीं कि पानी गर्म है कि ठंढा। वे यह भी नहीं देखते कि मैंने भरपेट भोजन किया कि नहीं। केवल दिखलाने भर को दो-एक मीठी बातें कर लेते हैं। मैंने अभी-अभी उनसे ठीक ही तो कहा कि उनको मेरा बस इतना ही ध्यान रहता है, जितना इस कोने पर पड़ी हुई लकड़ी का। जब आवश्यकता समझी, मुझ-सी बेजान और हे

वस्तु से बोल लिया और जी न चाहा तो फिर महीनों तक सुध भी न ली।'

जीवनलाल पत्नी के लौटने की प्रतीक्षा करते रहे। जब वह हाथ धोकर लौट आई तो अपनी चारपाई पर बैठकर शान्ति से बोले—"हाँ, तुम नाराज न होना मुझसे माया, मेरा चित्त ठिकाने नहीं है। आज सवेरे मैं न जाने कैसी रूखी बातें कर गया। इस समय भी मुझे तुमसे वैसा व्यवहार न करना चाहिए था। पर क्या करूँ? दिन-रात इसी चिन्ता में हूँ कि कैसे यह बला टले।"

माया ने कहा—"नाराज हो जाऊँ तो तुम्हारी बला से। तुमने क्या कभी मेरी चिन्ता की? उस दिन बुखार में छट-पटाती रही, तुम्हें अपनी दूकानों के हिसाब से छुट्टी नहीं मिलती थी। मेरी बातें तो तुम्हें बिलकुल ही नहीं सुहातीं। मेरी कोई भी बात सुनने को कभी तुम्हारा जी नहीं करता।" और भी अनेक उलाहने वह उस समय पति को देने लगी जीवन-लाल की मुद्रा पर एक खिसियाई हुई फीकी मुस्कराहट दीख पड़ी। वे कभी पत्नी की उस बड़बड़ाहट की ओर ध्यान देते और कभी अपने ही विचारों में तन्मय हो जाते।

माया ने ऐसी बातें कहीं, जो स्वयं वह जानती थी कि सही न थीं। जीवनलाल ने सोचा—'वह इस समय क्रोधित है, इसलिए ऐसा कह रही है। शायद वह चाहती है कि मैं भी उस पर क्रोध करके ऐसा ही कुछ कहूँ, पर मैं चुप रहूँगा। जब वह स्वयं शान्त हो जायगी तो फिर मैं उसे बतला दूँगा कि वह गलत कह रही थी।' ऐसा निश्चय करके जीवनलाल मुँह ढाँपकर फिर बिस्तर पर लेट गए।

माया कुछ शान्त हो गई, पर पति की अन्यायपूर्ण अवहे-

लना के लिए अब भी क्रोध का कुछ कुहरा-सा उसके मन के छिद्रों में यत्र-तत्र बिखरा तैर-सा रहा था। उसने उस अँधियारे को शीघ्र उड़ा देने की जल्दी नहीं की। किन्तु और भी समेटकर घनीभूत कर किया। वैसे वह सुलह के लिए तत्पर थी, प्रतिहिंसा की भावना भी उनमें शेष न रही थी; किन्तु अपने को थोड़ी देर और कुपित दिखलाकर ही वह शान्त होने का निश्चय करने लगी; क्योंकि उसे ध्यान था कि जाड़े की लम्बी रात के उपरान्त सबेरा होने में अभी बहुत देर है, और पति से उस दुर्घटना की पूरी बात जानकर सुलह करने में देर ही कितनी लगेगी। पति को उसी भाँति मुँह ढाँपे सोए छोड़कर वह दूध का गिलास लाने चली गई और थोड़ी देर में खट से स्टूल पर गिलास रखकर बोली—"दूध तो पी लो, रोटी तो तुमने आज जरा-सी भी नहीं खाई।"

पति ने सिर बाहर निकालकर देखा, फिर उठ बैठे और क्रोधित पत्नी का यह सेवा-भाव देखकर मन-ही-मन कहा—"सचमुच मैं बड़ा स्वार्थी हूँ। इस नारी-रत्न का वास्तविक मूल्य मैं आज तक नहीं जान पाया।"

दूध पीकर नित्य की भाँति तश्त में कुल्ला किया, फिर बिस्तर में लेटे-लेटे वे सोचने लगे कि अपने दैनिक व्यवहार में कब कौन-सी भयंकर गलती उनसे हुई है जिसके कारण पत्नी उनसे इतने दिनों से नाराज है।

अधिक देर तक जीवनलाल यह भी न सोच सके। कई दिन की यात्रा के उपरान्त थके थे। उन्हें जल्दी ही नींद आ गई। रात में जब आँखें खुलीं तो बड़ी देर तक फिर नींद न आ सकी।

उस शीत रात्रि में उन्हें अपनी भयाकुल परिस्थिति और

भी भयंकर प्रतीत हुई। बिस्तर पर लेटकर वे जल्दी-जल्दी करवटें बदलने लगे कि नींद आ जाए, पर नींद फिर भी न आई। पत्नी से कुछ कहने की उनकी इच्छा हुई, पर वह शान्ति से सो रही थी। अंत में कुछ आहट पाकर उन्होंने कहा—"सुनती हो माया, कल मैं फिर देहली जाऊँगा।"

पत्नी ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

कुछ देर शान्त रहने के उपरान्त उन्होंने फिर कहा—"एक बार बड़े मैनेजर से फिर मिलने का प्रयत्न करूँगा, शायद रुपया भर देने पर वह मेरे विरुद्ध अदालती कार्यवाही न करें।"

फिर भी पत्नी ने कुछ नहीं कहा, यद्यपि उन्हें विश्वास था कि वह सब कुछ सुन रही है। कई मिनट तक जो कुछ मैनेजर से कहना था, उसका मन-ही-मन मसविदा बनाकर उसमें फिर संशोधन करके और मैनेजर के संतोषप्रद उत्तर की भी कल्पना स्वयं करके उनके मन का बोझ कुछ हलका हुआ। इस प्रकार जागरण का कुछ समय तो कट गया। पर फिर चुपचाप लेटना असम्भव हो गया। चारपाई पर बैठ, फिर किंचित् जोर से कि पत्नी सुन ले, वे बोले—"शाम को लौट आऊँगा, इसलिए बिस्तर नहीं ले जाऊँगा।"

इस बार उन्हें विश्वास हो गया कि पत्नी अपनी नींद के कारण कुछ भी नहीं सुन पाई है, पर और कुछ जोर से बोलना असंभव पाकर वे हारकर, फिर गठरी सी बनकर बिस्तर पर लेट गए। सोचा, 'किसी को भी रत्ती भर उनकी चिन्ता नहीं। कहीं भी सहानुभूति दिखलानेवाला उसका कोई हितैषी नहीं है। ऐसे नीरस जीवन से, जिसका कोई अर्थ ही नहीं, क्या लाभ? व्यर्थ उस बेचारे ने मेरी जमानत की; व्यर्थ ही मैं घर

लौटकर आया। जेल में ही पड़ा रहता। वहाँ मेरे जैसे और साथी तो कुछ मिलते।'

यह सब सोचते हुए वे सुरेन्द्र को बिलकुल भूल गए। सारे परिवार में वही एक प्राणी रात भर जगा हुआ उनकी सारी बातें सुन रहा था और उनकी प्रत्येक हरकत का आकुलता से निरीक्षण कर रहा था। केवल उनके समीप आकर कुछ करने या कहने की उसकी हिम्मत नहीं हो रही थी। यदि जीवनलाल उतनी बार माया को संबोधित करके, एक बार कहीं उससे भी पुकारकर कुछ कहते, इसी के लिए वह बार-बार तरस रहा था। पर जीवनलाल को उसका बिलकुल ध्यान न था।

रेल के स्टेशन पर सीटी की आवाज हुई और पाँच बजे-वाली गाड़ी के आने का समय निकल हुआ तो जीवनलाल बिस्तर से उठ खड़े हुए। हाथ-मुँह धोकर कपड़े पहन, बिना पत्नी को जगाए ही जीवनलाल कमरे से बाहर हो गए। यह ऐसा समय था, जब उजाला भली भाँति नहीं हुआ था। जाड़े का प्रातःकालीन शीत सूर्य की प्रथम रश्मियों से उद्भासित दिगन्त की रेखाओं से मिलकर एक रहस्यमय अँधेरे और उजाले के सम्मिश्रण में बदल रहा था। पेड़ों की काली छाया पतली पड़ गई थी। यह ऐसा ही समय था, जब जाड़े में एक गृहस्थ परिवार में प्रत्येक व्यक्ति को रजाई के अन्दर एक सुखद अति मधुर गर्मी ज्ञात होती है और वह सिर ढाँपकर गहरी मीठी नींद में डूब जाने का प्रयत्न करता है। इस समय जो स्वप्न आते हैं, वे मानो बालरवि के आलोक से उद्भासित होकर सजीव वास्तविकता से दीप्त हो जाते हैं। माया उस समय ऐसी ही सुखद नींद का आनन्द ले रही थी।

सुरेन्द्र जल्दी से बिस्तर से उठकर कंबल ओढ़े जीवनलाल के पीछे बाहर गया और झट से आगे बढ़कर फाटक का दरवाजा खोलकर बोला—"अभी तो गाड़ी में देर है, चाय बना दूँ?"

जीवनलाल को आश्चर्य हुआ कि छोटे भाई को उसका कार्यक्रम ज्ञात है। वे बोले—"नहीं, मैं पैदल ही स्टेशन जाऊँगा।" वे मन-ही-मन भगवान् का ध्यान करते रहे, जैसा कि किसी यात्रा के आरम्भ में करने की उनकी आदत है। सुरेन्द्र ने पीछे हटकर कहा—"दद्दा, शाम को तो आप आ जायँगे?"

जीवनलाल ने उत्साह के साथ कहा—"हाँ, हाँ।"

(३)

माया उस दिन प्रातःकाल पति के चले जाने के डेढ़ घंटे बाद जगी। उस समय तो पति की अनुपस्थिति से वह अधिक चिन्तित नहीं हुई, पर ज्यों-ज्यों दिन बीता, वह उत्सुकता से उनके लौटने की प्रतीक्षा करने लगी। शाम को आठ बजे गाड़ी पर उन्हें लिवा लाने के लिए सुरेन्द्र गया, पर उस गाड़ी से जो थोड़े-से व्यक्ति उतरे, उनमें जीवनलाल नहीं था। आखिरी गाड़ी दस बजे आती थी, जब उससे भी जीवनलाल नहीं लौटे तो माया बिना खाए ही लेट गई। सुरेन्द्र एक घंटा और जागता रहा। कई बार तो उसे भ्रम होने लगा कि शायद अभी तक दस नहीं बजे। बरामदे में आकर वह थाने के घंटे को सुनकर जब एक-एक करके ग्यारह तक गिन गया, तब कहीं सोने को गया।

यह कल्पना करके कि बिना बिस्तर और बदलने के कपड़ों के पति कहीं जाड़े में ठिठुर रहे होंगे, माया को रजाई खोलकर ओढ़ने की इच्छा भी न हुई।

अगले दो दिन तक भी जीवनलाल घर नहीं पहुँचे। वे दो दिन माया ने बड़ी कठिनाई से काटे। उस दिन के अपने व्यवहार पर वह सौ-सौ बार अपने ही को धिक्कारने लगी। इस बीच जो कोई भी मिलने आया, उसकी आँखों में इस परिवार के प्रति एक प्रकार की घृणा का भाव स्पष्ट था। मानो वे कह रहे थे—'यह देखो, यह है जीवनलाल का परिवार। ये वही लोग हैं, जो सिगरेट की कम्पनी का रुपया चुराचुराकर मौज करते थे। अब ये उसका फल न भोगें तो कौन भोगेगा ? पाप की कमाई चल ही कब तक सकती है ? पति पकड़ा गया है, ठीक ही तो हुआ।' मित्रों तथा परिचितों की बातचीत में एक तिरस्कार की भावना स्पष्ट थी। मानो एक ही रात में वे अछूत और अस्पर्श्य अन्त्यज बन गए। ऐसी दूर-दुराव की भावना बच्चे तक में दीखने लगी। जो बच्चे गोविन्द को रात-दिन न छोड़ते थे और जो पड़ोसी विद्यार्थी सुरेन्द्र से लिपटे रहते थे, वे भी अब सहमे हुए से आते और अपने माता-पिता के डर के कारण थोड़ी देर दूर ही खड़े-खड़े बातचीत करके लौट जाते। उनके अभिभावकों ने सब कुछ कहकर उनकी निष्कपट आत्मा को कलुषित कर दिया था।

सुरेन्द्र ने तीसरे दिन से स्कूल जाना ही छोड़ दिया। माया दो-तीन बार बच्चों की दृष्टि बचाकर वकीलाइन के पास जाकर रो आई कि वकील साहब कहीं उसके पति का पता लगा दें। पति के लौटने की प्रतीक्षा करके सारे दिन उपवासी रह जाती।

तीसरी शाम वकीलाइन ने आकर फिर कहा—"पता लग गया कि जीवन बाबू जेल में हैं। उन्होंने जमानत पर रहना अस्वीकार कर दिया। वकील साहब कह रहे हैं कि न जाने उन्होंने ऐसी बेवकूफी क्यों की। अब कहीं ऐसा न हो कि वे

अपना कसूर भी स्वीकार कर लें और यदि ऐसा किया तो फिर सजा से बचने की सारी आशा जाती रहेगी।"

जिस बात को बेवकूफी कहकर वकीलाइन ने लक्ष्य किया, उसी को अपने पति की सच्चरित्रता समझ एक करुण भावना माया के मन में पति के प्रति जाग उठी। वह चुपचाप फिर सिसकती रही।

(४)

एक और मुसीबत ने माया को आ घेरा। सुरेन्द्र कभी कमरे के अन्दर न बैठता था और स्कूल से आते ही खेलने में व्यस्त हो जाता था। अब वह दो दिन से बिलकुल ही बाहर न निकला। न तो वह स्कूल गया और न कमरे से बाहर उसने पाँव रखे। जब माया खाना खाने बुलाती, आ जाता; पर फिर अपने कमरे के अन्दर घुस जाता। माया को आशंका होने लगी कि कहीं वह बीमार न पड़ जाए। पास-पड़ोस के लड़कों का खेलने के लिए आना बिलकुल बन्द हो गया था। गोविन्द जब कभी चाचा को पुकारने के लिए उसकी कोठरी के अन्दर जाता, वह उसे भी झिड़ककर बाहर निकाल देता।

उस शाम माया एक बार कमरे के अन्दर झाँककर देख आई कि वह बैठा-बैठा कर क्या रहा है, कहीं बुखार में पड़ा तो नहीं है। पर वह कागज-पेंसिल लिए तल्लीनता से कुछ लिखने में जुटा हुआ था। उसे माया का आना भी ज्ञात न हुआ। उसको तल्लीनता से माया ने चैन की साँस ली और उसे विश्वास हो गया कि उसका देवर आनेवाली छःमाही परीक्षा की तैयारी में ही व्यस्त है। सोचा—'साथियों के अभाव में अच्छा है, किसी भाँति तो वह अपना जी बहलाए।' पर थोड़ी ही देर के उपरान्त अँधेरा हो जाने पर भी सुरेन्द्र को उसी

प्रकार कापियों और पुस्तकों से जुटे देख, माया फिर उसके कमरे में प्रविष्ट हुई। डरते-डरते बोली—"लल्ला, जरा बाहर जाकर घूम आओ। इस प्रकार कमरे में पड़े-पड़े तो तुम बीमार हो जाओगे। गोविन्द को भी साथ लेकर नहर तक जाकर फिर लौट आना।"

"बीमार हो जाऊँ तो भी क्या? आपको इसकी चिन्ता क्या?" सुरेन्द्र अपनी कापियों पर ही झुका झुका बोला—"आपकी बला से।"

"आपकी बला से" यह वाक्य उसने माया से ही सीखा था। उस रात उसे अपनी भाभी-द्वारा प्रयुक्त होते सुन वह कई बार इस वाक्य को मन-ही-मन दुहरा चुका है। परिवार की सारी विपत्ति का कारण वह इन्हीं तीन शब्दों को मान चुका है और ये तीन शब्द उसे अब भी बड़े ही रहस्यमय और विप्लवकारी ज्ञात हो रहे हैं।

माया समझ गई कि यह उसी के द्वारा अपने पति को दी गई भर्त्सना की भयंकर प्रतिध्वनि अपने देवर के मुख से वह सुन रही है। इस परिवर्तित दुनिया में भोले-भाले सुरेन्द्र में भी वह अनोखा परिवर्तन देखकर वह अवाक् रह गई कि कैसे उसने वे सब बातें अपने अन्तर में समेट-सी ली हैं। क्षण भर चुप रहने के उपरान्त उसने सुरेन्द्र की थाह लेने के लिए कहा—"मुझे क्यों टोक रहे हो लल्ला? मैं तो वैसे ही अधमरी हो गई हूँ।"

अब कमरे के उस झुटपुटे अँधियारे में कापियों पर से दृष्टि उठाकर सुरेन्द्र बोला—"तुम्हीं ने तो भाई साहब को जेल जाने के लिए विवश किया। मुझे सब मालूम है। मैं उस

दिन सोया थोड़े ही था। हाँ, तुम्हीं ने उन्हें इस घर से भगाया है।"

इतना कहकर वह स्वयं रोने लग गया। आत्मग्लानि की एक प्रचंड अग्नि से माया सिर से पाँव तक तप्त सी हो उठी। देवर की बातों को सुनकर पहले तो वह दाँत पीसकर किसी भाँति अपनी बरबस आती हुई रुलाई को रोके रही! पर अब स्वयं उसे रोते देख, अपने प्रति उस अबोध बालक के सच्चे स्नेह से प्रभावित हो, किसी भाँति अपनी आँखों को मीचे अपने कमरे तक गिरते-पड़ते लौटी और वहीं बरामदे में आकर फूट-फूटकर रोई। असाधारण रूप से गम्भीर प्रकृति के सुरेन्द्र को सब कुछ ज्ञात है, यह जानकर उसके लिए घर और बाहर एक सा दुःसह दुःख हो गया, कहीं भी मुँह दिखलाने योग्य वह न रही।

गोविन्द के आ जाने से वह अधिक देर रो भी नहीं सकी। प्रतिदिन शाम को वह पैदल ही स्टेशन-मास्टर के घर तक हो आता है और उनसे पूछ आता है कि क्या आज उसके पिता लौट आयँगे कि नहीं। आज भी इसीलिए वह स्टेशन गया था और आज पिता के परिचित बड़े बाबू ने न तो उसे गोद ही में लिया और न उसके प्रश्नों की ओर ध्यान दिया। इसीलिए वह रुआँसा-सा घर लौटा है और व्यर्थ ही रोटी के लिए जल्दी मचाकर अपनी माँ को परेशान करके अपनी झुँझलाहट को शान्त करना चाहता है।

माया ने रोटियाँ सेंककर गोविन्द को खिला दीं। फिर उसे सुला दिया। पर सुरेन्द्र खाना खाने नहीं आया। उसे बुलाने की हिम्मत माया को नहीं हुई। देर तक उसकी प्रतीक्षा करके जब माया को झपकियाँ आने लगीं, तो विवश होकर उसे जाना

ही पड़ा। दरवाजे पर जाकर उसने देखा, किवाड़ बन्द हैं और कमरे के अन्दर उजाला भी नहीं दीखता। किवाड़ पर क्रोधित होकर उसने एक धक्का दिया; पर किवाड़ बाहर से बन्द थे, ताला भी लगा हुआ था।

तब वह भी बिना पूछे चला गया, यह सोचकर माया के प्राण सूख गए। घबड़ाहट के कारण वह काँप गई। फिर ऊपर नीचे सभी बरामदों और कोठरियों के किवाड़ खोल और उजाला करके उसने सारा घर छान डाला। सुरेन्द्र का कहीं पता न था। उसकी इच्छा हुई कि वकील साहब के घर जाकर उनसे सुरेन्द्र की खोज कर देने की प्रार्थना करे। खिड़की खोलकर उसने उनके मकान की ओर देखा भी, पर बाहर घना अँधेरा छाया था। सड़क बिलकुल सुनसान थी। वकील साहब के घर कोई भी जगा हुआ न दीख पड़ता था। रात बहुत बीत चुकी थी। न जाने कितनी देर तक वह झपकियाँ लेती रसोई के पास ऊँघती रही थी। उसने शाल ओढ़ा, सीढ़ियों की बत्ती जलाई और वकील साहब के घर की ओर जाने को तैयार हो गई। पर फिर रुक गई। गोविन्द को इतने बड़े मकान में इस आधी रात को अकेले छोड़ने का उसका जी नहीं हुआ।

किसी भाँति रात कटी। सवेरा होते ही गोविन्द "चाचा", "चाचा" पुकारने लगा। माया को पहले तो उस पर क्रोध आने लगा, फिर वह चुपचाप उसकी गति-विधि का मन मारे अपनी आँखों से ही अनुसरण करने लगी। जब गोविन्द यह समझकर कि आज उसके चाचा देर तक सोते रह गए और स्वयं उसने उनसे पहले उठकर एक बड़ी बहादुरी का काम कर दिया है, अपनी बहादुरी जतलाने सुरेन्द्र के कमरे की ओर बढ़ने लगा,

तो माया चुप न रह सकी। बोली—"अरे, पागल हो रहा है क्या? तेरे चाचा तो कल ही शाम तेरे पिताजी को बुलाने के लिए चल दिए हैं।"

पड़ोस के रहनेवालों ने सुरेन्द्र के भागने का समाचार सुना तो वे इसे एक साधारण घटना का रूप देकर केवल हँस दिए।

यदि माया को अपने माता-पिता के कुटुम्ब की उस महामारी में होनेवाली दुःखद मृत्युओं और उसके उपरान्त 'आइसोलेशन' वार्ड के अपने बाल्यकाल का अनुभव न होता तो वह शायद इस परिवार में घटनेवाली इन एक के उपरान्त दूसरी विपत्तियों का बिलकुल ही सामना न कर पाती। पर दस वर्ष पुराना वह अनुभव, जब परिवार के छः व्यक्तियों की मृत्यु के उपरान्त, उसके पिता को जबरदस्ती उस निर्जन अस्पताल में फेंक दिया गया था और केवल वही उनके पास रही थी, शहर के उनके हितैषी और अभिन्न मित्र भी प्लेग के डर से वहाँ झाँकने तक को नहीं आये थे; वही अनुभव आज उसकी सहायता कर गया। उस बार तो पिताजी के स्वस्थ होने की आशा में वह दिन काट रही थी। अस्पताल के डाक्टर और कम्पाउण्डर समय-समय पर आ जाते थे, पर अब इस परिवार में कोई पूछने तक को न आता था। अपमान का यह आघात प्लेग से भी अधिक सांघातिक था।

दो दिन और बीत गए। माया, उन्मादग्रस्त-सी दिन-रात किसी के पैरों की आहट पाने की अत्याशा में कान बाहर की ओर लगाए रहती। झट आवाज सुनकर कभी चौंक पड़ती कि कोई बुरी खबर सुनने को न मिले। जीवन की सारी कटुता नग्न रूप में प्रकट होकर उसे परिवार के अप्रत्याशित अमंगल

की सूचना देती और वह सोचती कि कब, कौन उसका उद्धार करने आएगा। मायके में भी उस अभागी का कोई नहीं, जिसे वह अपनी सहायता के लिए बुला सके। महरिन आती, वह भी डरी और सहमी-सी।

उस शाम माया बैठी गोविन्द से दावात और कलम माँगकर अपने एक दूर के रिश्ते के नाना को एक पत्र लिखने बैठी थी कि दोनों भाइयों का चिर-परिचित स्वर एकाएक उसके कानों में पड़ा। फिर जूतों की भटाभट आवाज सीढ़ियों पर हुई। सुरेन्द्र की हँसी का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ा। वह स्वर माया के भीतर प्रवेश होकर एकाएक प्रकाश की छटा की भाँति फैल गया। पति और देवर को सम्मुख आते देख एक तरल दृष्टि से माया ने उनका स्वागत किया। सुरेन्द्र ने भाभी को प्रणाम किया। माया ने "चिरंजीवि" कहकर सलज्ज तीव्रता से घूँघट खींच लिया। उसने यह नहीं पूछा कि विपत्ति टल गई या नहीं। वह पति और देवर की उपस्थिति ही से प्रसन्न हो गई। उनका एकाएक आ जाना उसकी सारी जिज्ञासा को कुंठित कर गया; और भविष्य उस हर्षोल्लास की चकाचौंध के सम्मुख उस अबोध नारी को दीख ही नहीं पड़ा।

जीवनलाल ने कहा, "लो माया, तुम्हारे इस नटखट देवर के कारण सब कुछ ठीक हो गया है। जहाँ मैं बिलकुल हताश हो गया था, इसने अपनी युक्ति से सब कुछ फिर ठीक कर दिया।"

बात इस प्रकार हुई कि कम्पनी के हिसाब की दो भिन्न-भिन्न बहियाँ थीं। सुरेन्द्र ने पिछले दो वर्ष के हिसाब की दोनों बहियाँ मिलाकर उन्हें कम्पनी के बड़े मैनेजर के सम्मुख रखा कि दोनों बहियों में जो अन्तर है, उससे जीवनलाल के ऊपर चलनेवाला ख्यानत का मुकद्दमा तो चल ही नहीं सकता, उलटे अगर जीवन-

लाल चाहें तो कम्पनी के हिसाब को इनकमटैक्स-अधिकारियों के सुपुर्द करके मैनेजर के ऊपर एक 'बड़ा मुकदमा' चला सकते हैं। मैनेजर हिसाब की उस हूबहू सच्ची नकल को देखकर सकपका गया। उसने तत्काल जीवनलाल के विरुद्ध सारे मामले को अपने हिसाब की गलती कहकर अदालत से वापस ले लिया और कम्पनी की ओर से एक लिखित क्षमा भी जीवनलाल से माँगी।

अपने छूटने पर जीवनलाल को किंचित् भी हर्ष नहीं। उस शाम जीवनलाल ने पत्नी से कहा—"मैं अब तक पाप की कमाई पर ही जीविकोपार्जन करता रहा। कम्पनी ने मेरे विरुद्ध मामला वापस ले लिया; पर मैं सोचता हूँ, मुझे पहले ही उनसे कह देना चाहिए था कि गलत हिसाब न रखूँगा। सरकार को धोखा देने के लिए दो बहियों का रखना एक नैतिक पाप है। मैं इस पाप-कृत्य में कम्पनी की सहायता करता रहा। यदि मैं अब भी अदालत के सम्मुख अपनी दोहरे हिसाब रखने की बात स्वीकार करलूँ तो मुझे सजा हो जायगी; पर उससे मुझे शान्ति मिल जायगी। कम्पनी के प्रबन्धकर्त्ता भी शायद सजा से न बच पायँगे, यह सब मैं उनसे बदला लेने की प्रवृत्ति से नहीं कर रहा हूँ। तुम्हारी इसमें क्या राय है ?"

पत्नी ने कहा—"एक बार जलती ज्वाला से बचकर फिर जान-बूझकर उसमें क्यों कूद रहे हो ? दोहरे हिसाब को रखने की गलती कम्पनी के प्रबन्धकर्त्ताओं के कहने पर तुमने की सही, पर अपने आप उसका भेद खोलना मुझे तो ठीक नहीं लगता। अच्छा यही है कि अब आप ऐसी बेईमान कम्पनी की नौकरी ही छोड़ दें।"

"चलो, सुरेन्द्र से भी पूछ लें।" जीवनलाल ने कुछ सोचकर कहा—"वह क्या मान जायगा ?"

सुरेन्द्र उसी समय हँसता हुआ अन्दर आया और बोला—"वकील साहब को बड़ा अफसोस हुआ है कि आपके ऊपर चलनेवाला बड़ा मुकदमा कम्पनी ने वापस ले लिया। वे कम्पनी की ओर से पैरवी करनेवाले थे।"

"यह तो उनका व्यवसाय ही है, इसमें उनका क्या दोष?" जीवनलाल बोले।

"आग लगे ऐसे व्यवसाय को, जो दूसरों के दुःख पर पनपता है।" सुरेन्द्र बोला—"बेईमान कम्पनी की मदद करके एक गरीब का गला काट देना ठीक है क्या?"

"मैं भी तो उसी बेईमान कम्पनी का नौकर हूँ, मैं कुछ कम बेईमान नहीं।" जीवनलाल बोले।

"तब आज ही ऐसी कम्पनी की नौकरी छोड़ दीजिए।" सुरेन्द्र भाई की आँखों से आँखें मिलाकर उनके अंतर को पढ़ने का प्रयत्न करते हुए बोला।

"तुम ठीक कहते हो। मैंने भी यही निश्चय किया है।" जीवनलाल ने कहा।



पत्नी का चित्र

यह भी एक आश्चर्य की बात थी कि उन सब पत्रिकाओं में से उसने वही पत्रिका छाँटी थी, और उस पत्रिका को खोलते ही अब वही चित्र उसके सम्मुख आया था।

चित्र देखकर डैनियल स्तम्भित रह गया। सोचने लगा, 'पत्नी मुझे धोखा देती रही। उसी का, मरिण्डा का, मेरी पत्नी का ही तो यह चित्र है। नहीं, इसमें कहीं कोई त्रुटि नहीं हो सकती। पर वह पुरुष? वह मैं नहीं हूँ। इतना बड़ा धोखा! और मैं उसे भोली-भाली, सरल प्रकृति की लड़की समझता था।

चित्र उस अँगरेजी मासिक पत्रिका में छपा था, जिसे वह अपने मित्र लेफ्टिनेंट जोशी से माँग लाया था। युद्ध, सेना, हवाई बेड़े तथा नाविकों के और भी कई चित्र उस पत्रिका में थे। पर एक हवाई अड्डे का चित्र, जिसमें एक युवती अपने प्रेमी से विदा ले रही थी, बड़ा मार्मिक था। किसी सम्वाद-दाता ने उस विदाई के पूर्व के युवा प्रेमियों के आलिंगन से प्रभावित होकर, उसका फोटो लेकर, प्रकाशनार्थ भेज दिया था। वह युवती उसी की पत्नी थी। पर उसके बाहुपाश में बँधा वह युवक डैनियल न था।

डैनियल को याद था कि चित्र उसी हवाई अड्डे का था, जिस पर वह उस दिन प्रातःकाल आसाम जाते समय कुछ देर के लिए रुका था। उसने पत्नी को लिखा था कि वह उससे

मिलने उस हवाई अड्डे पर आवे। पत्नी उससे मिलने नहीं आई थी, पर इसमें उसी की गलती थी। मरिएडा का पत्र उसे मिला था। वह शाम को छः बजे हवाई अड्डे पर आई थी। डैनियल ने यही समय उसे दिया था। पर उसका जहाज सुबह के छः बजे, ठीक बारह घण्टे पहले ही उस स्थान पर उतरा था। अपने पत्र में वह गलती से छः बजे सुबह को छः बजे शाम लिख गया था।

डैनियल और मरिएडा एक गरीब परिवार के भारतीय ईसाई थे। डैनियल उस कस्बे की ईसाई बस्ती के छोटे से गिरजे के पादरी का लड़का था। और मरिएडा वहीं के मिशन स्कूल के हेडमास्टर की लड़की थी। एफ० ए० पास करके डैनियल सेना में भरती हो गया था। वहाँ उसे हवलदार क्लर्क बनाया गया था। पर वह स्कूल छोड़ने के बाद लिखने-पढ़ने के काम से छुट्टी पा लेना चाहता था, इसीलिए सेना में फिर लिखने-पढने का काम बिलकुल पसन्द नहीं आया। उसने पैराशूट पल्टन में अपना नाम दे दिया। उस टुकड़ी में लिये जाने पर उसे बेतार का काम सिखलाया गया, जो उसे खूब रुचा। शीघ्र ही वह जमादार का पद पा गया, जो उसे अपने पुराने पद से अधिक महत्वपूर्ण लगता था।

मरिएडा को वह बचपन से ही जानता था। पर विवाह जैसी बात तब उसकी कल्पना में उदित भी नहीं हुई थी। वह अन्य ईसाई लड़कियों की भाँति उच्छृङ्खल न थी, इसीलिए डैनियल को अधिक प्रिय थी। पल्टन में आकर, अपने और साथियों की बातचीत से प्रभावित होकर ही, उसे भी अपने जीवन में, विवाह जैसी आकर्षक घटना के होने का लोभ हुआ, और वह मरिएडा के विषय में एक नए दृष्टिकोण से सोचने लगा।

अपने विवाह से पहले वह कभी-कभी पैराशूट के साथ हवा में उतरते हुए सोचता, 'काश, मरिण्डा मुझे इस समय देखती !' श्वेत, गोलाकार छतरी को अपने इच्छानुसार हवा में उतरते समय कभी तिरछा और कभी खड़ी करके, जब वह कई क्षण तक पक्षियों की-सी उड़ान का आनन्द लेता रहता, तो सोचता, 'मैं फ्लाइट लेफ्टिनेंट को प्रसन्न रखूँगा। एक दिन ऐसा आएगा कि वह मुझे बुलाएगा। स्वयं कहेगा, "तुम्हारा गाँव कहाँ है ? आज हवाई जहाज तुम्हारे गाँव की ओर उड़ेगा। तुम अपना पैराशूट ले लो। तुम्हें हम तुम्हारे गाँव के ऊपर उतरने देंगे।" मिशन स्कूल के उस मैदान में मैं उतरूँगा। मरिण्डा तब आकाश से किसी श्वेत गठरी को गिरते देखेगी। मैं इतनी ऊँचाई से उतरूँगा कि एक सितारे सा छोटा दिखलाई दूँगा। फिर जल्दी-जल्दी मैं अपना रेशमी छाता खोल दूँगा। उसे यथाशक्ति हवा में थिरकता छोड़कर बहुत धीरे-धीरे उतरूँगा। वह मुझे न पहचानकर शायद डर जाय, सो मैं मैदान के उस कोने पर उतरूँगा, जहाँ हेडमास्टर का मकान है। और सम्भव हुआ, तो ठीक उसी बैडमिंटन के कोर्ट पर गिरूँगा, जहाँ मैं और मरिण्डा साथ-साथ खेला करते थे।

फिर पैराशूट के जमीन पर उतर जाने पर, अपने हाथ-पाँव सहलाता हुआ, वह सोचता, 'अब तो सारी ईसाई बस्ती को ज्ञात हो गया होगा कि मैं मरिण्डा को चाहता हूँ। वह पार्सल मैंने अस्पताल की बूढ़ी नर्स के परामर्श से भेजा था। गाँव का वह पुराना डाकिया उसे देने गया होगा, तो पहले उसी ने पार्सल भेजनेवाले का पता पढ़ा होगा। फिर उसने वह बात ईसाई बोर्डिङ्ग की उस अँगरेज महिला से कही होगी। हाँ,

पोस्टमैन उस महिला से गाँव की प्रत्येक चिट्ठी के विषय में कह देता है। लड़कियों के पत्र वह पहले उसी महिला को दिखला-कर, उसकी स्वीकृति मिल जाने के बाद ही लड़कियों तक पहुँचाता है। मेरा भेजा पार्सल मरिएडा को मिल गया होगा। तभी तो उसने उत्तर में वह पत्र भेजा था, और उस उपहार के लिए मुझे धन्यवाद दिया था। अब तो मैं तीन सौ रुपये मासिक पाता हूँ। इतना अधिक वेतन तो मरिएडा के पिता के मातहत काम करनेवाले किसी भी अध्यापक को नहीं मिलता। मरिएडा का वह डर कि उसके पिता मिस्टर दास या मिस्टर सिंह जैसे किसी मास्टर से उसकी शादी कर देंगे, व्यर्थ है। यदि उसके पिता ऐसी किसी बात पर तुले होते, तो उस पार्सल के मिलने पर उस पर निश्चय ही फटकार पड़ती। फिर उसकी माँ ने जो पत्र लिखा है, उसमें तो स्पष्ट ही लिख दिया है कि मरिएडा ने उसे बहुत याद किया है। मरिएडा स्वयं बहुत सीधी लड़की है। वह नए प्रेमियों की खोज करने लगे, यह असम्भव है।'

ये पुरानी बातें उसे बड़ी अनोखी लगती हैं। तब अपने विवाह को वह असम्भव समझता था। पर उसका विवाह बड़ी आसानी से हो गया। उसे इतने शीघ्र मरिएडा को अपनी पत्नी के रूप में पा जाने की आशा न थी। चंचल लड़कियाँ उसके शर्मीले स्वभाव के कारण उसे कभी पसन्द न करती थीं। फिर उसका रंग भी गहरा काला था। वह बहुधा सोचता कि उसमें किसी नवयुवती को आकर्षित करने की क्षमता नहीं है। पल्टन के अस्पताल की वे नर्सें, जिनमें बहुत-सी उसी के समान काले रंग की थीं, उसकी सजातीय होते हुए भी कभी उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखती थीं।

अवकाश के समय वह बन-ठनकर ही निकलता था। बाल ठीक ढँग से सँवारता था। छुट्टी के दिन छावनी के पास गिरजे में भी और ईसाई परिवारों से मिलने के हेतु हो आता, पर वहाँ भी वह बुद्ध-जैसा बैठा रहता था। पुरुष सभी उसकी धर्मपरायणता की प्रशंसा करते, पर युवतियाँ उसकी ओर एक बार देखकर ही अपनी दृष्टि को तृप्त कर लेतीं। दूसरी बार उसकी ओर देखने की उन्हें आवश्यकता ही न प्रतीत होती।

अस्पताल की वह बूढ़ी नर्स ही कभी-कभी उससे बोल लेती, और सो भी अपने मतलब के कारण। फटे पैराशूट के कपड़े ही माँगने वह आती। कभी हँसी में वह कहती—"कहो तो जमादार साहब, इस लाल रेशम का एक सुन्दर फ्राक तुम्हारी प्रेमिका के लिए बनाकर भेज दूँ ?"

पहले डैनियल को उसकी बातें बड़ी अप्रिय लगती थीं। वह उसे फटे पैराशूट के कपड़े देकर जल्दी टाल देता था। पर उस दिन, बड़े दिन से एक सप्ताह पूर्व वह कई सुन्दर वस्तुएँ उन्हीं रंगीन टुकड़ों से बनाकर लाई, और उन्हें डैनियल के सम्मुख रख दिया, तो वह गद्गद हो गया। तब बुढ़िया के परामर्श से ही, दो-चार और वस्तुएँ बाजार से खरीदकर, उसने वह बड़ा पार्सल मरिण्डा को भेजा था।

अस्पताल की उन नर्सों की अवहेलना में ही उसे अपनी वास्तविकता का परिचय मिला था और उसे विश्वास हो गया था कि किसी नई प्रेमिका को खोजने से तो मरिण्डा की ही प्रतीक्षा करना उचित है। वही अकेली लड़की उसे चाहती है। मोर्चे से लौटने के उपरान्त वह तीन माह की छुट्टी लेकर घर पहुँचा था। मरिण्डा को देखकर उसे लज्जा-सी लगी थी। केह

साल की उस अनुपस्थिति के उपरान्त वह उसे एक अनोखी रूपसी युवती-सी ज्ञात हुई थी। उसके रूप और रंग में इस थोड़े समय में बड़ा परिवर्त्तन हो गया था। उसका गोल चेहरा और वे बड़ी-बड़ी आँखें अब और भी भोली और सरल लगती थीं। कन्धों पर झूलती वे दोनों लटें डैनियल के हृदय में एक मीठा सा दर्द उत्पन्न कर देती थीं। वह सोचता, 'मरिएडा की यह गोलाकार मुद्रा उसकी सरलता और भोलेपन की द्योतक है। लम्बी या अंडाकार मुद्रा की लड़कियाँ न तो इतनी सुन्दर दीखती हैं, न इतनी भोली। सचमुच गोल मुखाकृति में वह बालसुलभ सौन्दर्य है, जो इसी वय की अन्य लड़कियों में दुर्लभ होता है। तब कभी-कभी अपने अभद्र व्यवहार और कुरूप चेहरे की बात सोचकर, वह अपने को इस लड़की के बिलकुल अयोग्य समझता और सोचता कि न जाने मरिएडा उस पार्सल के विषय में क्या सोचती होगी।

उस इतवार को वे दोनों गिरजे में मिले थे। 'सर्विस' समाप्त करके उसके पिता ने अचानक ही उसकी और मरिएडा की मँगनी की बात कह डाली थी। जिसे अपनी जिह्वा पर लाने में भी उसे असह्य संकोच होता था, वही बात, उसका वही स्वप्न अब सत्य होने जा रहा था। लज्जा से आरक्त होकर, उसका मुँह गहरे नील वर्ण का हो गया था। स्वयं मरिएडा भी सकुचाकर अपनी माँ के पीछे कुर्सी पर दुबक गई थी। पर उस गिरजे में एकत्रित व्यक्तियों को न तो उस समाचार को सुनकर आश्चर्य ही हुआ, और न उन्होंने इसमें कोई आवेग ही प्रदर्शित किया था। सब शान्ति से इस संवाद को सुनकर गम्भीर बने रहे थे। मानो पादरी के लड़के के छुट्टी

से घर लौटने पर वे ऐसी ही किसी घटना की पहले ही से आशा लगाए थे।

फिर शादी की तिथि निश्चित हुई थी। मरिएडा उसके पास तब तक कभी पल्टन की मनोरंजक घटनाओं या देश-विदेश के लोगों की कहानियाँ सुनने आ जाती थी। पर गिरजे की उस घोषणा के उपरान्त वह पादरी के मकान का मानो रास्ता ही भूल गई। उस ओर आते-जाते भी वह डैनियल की ओर न देखती। उसके पिता पहले तो कभी-कभी शाम को अपनी पत्नी और पुत्री को साथ लेकर पादरी साहब से गप-शप करने आते थे, पर अब वे भी अकेले ही आते थे। कह देते थे कि हेडमास्टरनी मरिएडा के लिए कपड़े सीने में व्यस्त हैं। और मरिएडा के लिए वे यही वाक्य प्रयुक्त करते, "लड़की बड़ी सीधी है, बड़ी भोली। इसीलिए अब मँगनी के बाद इस ओर आने में सकुचाती है।"

'बड़ी भोली, बड़ी सीधी', यह विशेषण डैनियल मरिएडा के लिए बचपन से ही प्रयुक्त होते सुनता है। बाल्यकाल से ही उसके सभी साथी हेडमास्टर की उस लड़की को ऐसा ही कहते आए हैं। वह भी स्वयं ऐसा ही विश्वास करता आया है। पर आज यह तस्वीर, जो अचानक उसके हाथ लगी है, उस तथाकथित भोली लड़की के दूसरे ही रूप का दिग्दर्शन करा रही है। तस्वीर निश्चय ही उसी हवाई अड्डे की है, जहाँ उसने मरिएडा से मिलने को कहा था। यह स्थान उसके गाँव से केवल बारह मील दूर है। कई बार वह वहाँ गया है। साइनबोर्ड, सड़कों तथा अंग-रेजी रेस्तराँ के विशाल भवनों से वह भली-भाँति परिचित है। मरिएडा ही इस तस्वीर में है। उसकी वे दोनों लटें स्पष्ट पह-चानी जाती हैं। वह जो फ्राक पहने है, वह रेशमी छींट का

है, जो डैनियल की ही खरीदी हुई है। पर जिस अपरिचित व्यक्ति के प्रगाढ़ आलिंगन में वह बँधी है, उसे पहचानना कठिन है। तस्वीर में उसका पृष्ठ-भाग ही दीखता है, क्योंकि वह कैमरे की ओर पीठ किए खड़ा है। मरिएडा की अर्द्धनिमीलित आँखों से विदाई की वेदना स्पष्ट व्यक्त है।

'इतना बड़ा धोखा!' डैनियल कुर्सी पर बैठे-बैठे फुसफुसाया। जोर से उसने अपनी मुट्ठियाँ बाँध लीं। उसका सिर चकराने लगा। ज्यों-ज्यों वह उस तस्वीर की ओर ध्यान से देखता, त्यों-त्यों उसका तप्त रक्त सारे शरीर से सिमटकर कनपटियों को अपने वेग से तप्त करता हुआ, उसके मस्तिष्क में बाढ़ के पानी की भाँति तेजी से उतरने लगता।

तस्वीर को बन्द करके, एक असह्य मनोद्वेग से विह्वल होकर वह बाहर निकल आया।

(२)

यह निश्चय करके कि अब न मरिएडा के विषय में सोचेगा और न उस तस्वीर के विषय में, वह क्लब की ओर चला गया। क्षण भर उसने अपने चतुर्दिक दृष्टि दौड़ाकर यह देखना चाहा कि वहाँ कोई ऐसा साथी मिल जाय, जिससे किसी और विषय पर बात आरम्भ कर दी जाय। पर कहीं कोई ऐसा मित्र न दिखलाई दिया। इमली के विशाल वृक्षों के उस पार एक बड़े मैदान में सिपाही परेड कर रहे थे। वृक्षों की उस घनी छाया को देखकर, उसे अपनी छुट्टियों के वे सुनहरे दिन फिर स्मरण हो आए। मानो उसका विवाह और सुहागरात के वे दिन कल ही की घटना हों। विवाह के दूसरे ही दिन वे नदी के किनारे मिशन की उस बड़ी कोठी में गये

थे। वहाँ उसके पिता की एक परिचिता मिशनरी महिला रहा करती थी। डैनियल सोच रहा था कि यदि उस बड़ी कोठी के एक भाग में उसे भी रहने की आज्ञा मिल जाती, तो सुहागरात के वे दिन बड़े आनन्द से कट जाते। पर उसके पिता ने सब कुछ पहले ही निश्चय कर लिया था। उन दोनों को उसी प्रातःकाल बतलाया गया कि उनके रहने का प्रबन्ध उसी कोठी में किया गया है। कोठी दो-तीन दिन पूर्व ही खाली हुई है। महिला दो माह बाद लौटने को थीं। इस बीच उस कोठी की देख-रेख का प्रबन्ध उसी के पिता को करना था। फिर बुढ़िया का वह पत्र निकालकर, पादरी साहब ने मरिण्डा को दिया। इसमें उसने उन दोनों को विवाह के लिए शुभ कामनाएँ भेजी थीं, तथा अपनी अनुपस्थिति के लिए क्षमा-याचना के साथ-साथ आग्रह किया था, कि वे उसी कोठी में रहकर छुट्टियाँ बितायें। डैनियल को पहले इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में बड़ा संकोच हुआ। वह दिल से तो उसी कोठी में रहना चाहता था, पर पिता के द्वारा उसी प्रस्ताव के सम्मुख आ जाने पर, उसने कोठी में छुट्टियाँ बिताना अस्वीकार कर दिया। पर मरिण्डा को घर से अधिक दूर वन-विहार के लिए जाना पसन्द न था। इसीलिए अन्त में विवश होकर उसी कोठी में उसे जाना पड़ा था।

कोठी का वह एकान्त जीवन कितना मधुर था। उसकी स्मृति से अब भी डैनियल के हृदय में एक टीस सी उठ जाती है। मरिण्डा के साथ वह सुबह उठकर बाग में टहलने जाता था। गिलहरियाँ मार्ग में कभी इधर, कभी उधर रुककर उन्हें देखा करती थीं, और कभी दौड़कर उनके मार्ग से हटकर किसी पेड़ पर चढ़ जाती थीं। गिलहरी का एक जोड़ा सदा

उन्हीं का अनुसरण करता था। डैनियल का मन भी तब उन्हीं गिलहरियों की भाँति किलोल करना चाहता था। मरिण्डा शीघ्र ही अपना स्वाभाविक संकोच त्यागकर, उससे खूब हिल-मिल गई थी।

उस दिन वह गहरे नीले रंग की साड़ी पहने थी। आम की डाल पर बैठकर कोयल की नकल करके, उस पत्ती को गड़बड़ा दे रही थी। डैनियल चमड़े की फतुही और बैंगनी रंग का धारीदार मखमली पतलून पहने, उसी पेड़ के नीचे उन दोनों गिलहरियों को बिस्कुट के टुकड़े दे रहा था। मरिण्डा ऊपर की एक तिरछी डाल पर बैठी कह रही थी—"डैनियल डार्लिङ्ग, यदि मैं इस डाल से नीचे कूद पड़ूँ, तो तुम मुझे बीच ही में रोक लोगे न ?" उसका उत्तर देने से पहले वह डाल, जिस पर मरिण्डा खड़ी थी, कड़-कड़ करती हुई टूट पड़ी थी। मरिण्डा डर के मारे कूद पड़ी थी, और गिरी थी ठीक उसी के कन्धों पर, गिरते-गिरते उसने अपने दोनों हाथ उसकी गर्दन के पीछे डाल दिए थे। वह भयभीत-सी कभी हँसती, कभी रोती, एक बड़ी फूलमाला-सी उसके सीने पर दो क्षण झूलती रही थी।

छुट्टियों के वे दिन न जाने कितनी जल्दी समाप्त हो गए थे। वह छुट्टी बढ़ाने की सोच रहा था, पर छुट्टियों की समाप्ति से दो दिन पूर्व उसे सूचना मिली थी कि वह आसाम भेजा जायगा। उससे पहले उसे निकट की जाट छावनी में जाकर टीका लगा लेना था। छावनी में उसे अपने कई और साथी मिले थे। ज्ञात हुआ था कि वे बमबारों की उस टुकड़ी के हवाई जहाज से आसाम भेजे जायँगे। उनका हवाई जहाज मार्ग में इसी जिले के हवाई अड्डे से होकर गुजरेगा। वहाँ

मलेरिया-निवारक दल के कुछ लोग उसमें सवार होंगे। वह बड़ी प्रसन्नता से घर लौटा था। मरिएडा भी सुनकर बहुत प्रसन्न हुई थी। तब उन दोनों ने निश्चय किया था कि अन्तिम विदाई उसी एरोड्रोम पर होगी। डैनियल अपनी रेजिमेण्ट में पहुँचकर लिखेगा कि किस दिन और किस समय उनका विमान उस एरोड्रोम पर उतरेगा, और मरिएडा रेडक्रास की गाड़ी में बैठकर वहाँ तक आयगी। रेडक्रास का वह डाक्टर उस कस्बे से प्रति दिन हवाई अड्डे पर दो बार अपनी गाड़ी लेकर जाता था। वह निश्चित दिन मरिएडा को वहाँ ले जाने को तैयार हो गया था। वे सब पुरानी बातें उसे याद आ रही थीं।

उस दिन मरिएडा मोटर के अड्डे तक उसे पहुँचाने आई थी। रूमाल हिलाते समय उसकी मुद्रा पर 'जल्दी ही मिलेंगे' वाली भावना स्पष्ट थी। यद्यपि सैनिकों को अपने जाने-आने का ठीक समय और निर्दिष्ट स्थान बतलाने की आज्ञा पल्टन में न थी, और न ऐसी बात वे अपने किसी पत्र में लिख सकते थे, पर डैनियल ने चालाकी से उस पत्र में लिख दिया था—'तुम्हें शुक्रवार की शाम को छः बजे रेडक्रास गाड़ी में वहाँ पहुँच जाना चाहिए।'

उसे याद है, कि हवाई जहाज का अम्बाला से छूटने का समय बारह बजे दिया गया था, और लगभग छः घण्टे की यात्रा के उपरान्त वह डैनियल के गाँव के निकट के हवाई मैदान में उतरता था। पर बाद में चलने से कुछ ही घण्टे पूर्व उसे ज्ञात हुआ था कि दिन के बारह बजे नहीं, विमान पहली ही रात के बारह बजे छूट जायगा। पर तब क्या हो सकता था? काश, उसकी पत्नी बेतार के तार के संवाद सुन सकती, तो

डैनियल अपने बेतार के यंत्रों को साफ करते समय अनायास संवाद भेज देता—'मरिएडा, ६ पी० एम० नहीं, ६ ए० एम० ।' फिर सोचता कि शायद इतनी बार मरिएडा को भेजा गया उसका यह संवाद किसी अलौकिक प्रक्रिया के द्वारा उसकी पत्नी तक पहुँच जाय । कैसा पागलपन था !

डैनियल सूर्योदय के समय जब उस पूर्व-निश्चित हवाई मैदान में अपने विमान से उतरा था, तो उसे कभी पूर्व की उस लाली पर झुंझलाहट होती थी, और कभी सूर्य के उस उदय पर कि वह सूर्यास्त में क्यों नहीं परिवर्तित हो जाता । कभी वह अपने विमान की ओर देखता कि शायद अब भी उसका कोई यंत्र खराब हो गया हो । शायद वह दिन भर वहीं पड़ा रहे । शायद इंजिन शाम तक ही ठीक हो पाए । पर ऐसा कुछ न हुआ था । ठीक आधे घंटे में चालक ने सैनिकों को बैठ जाने का आदेश दे दिया । उस दिन पहली बार डैनियल अपनी युवावस्था में बालकों की भाँति रोने लगा था । और बरबस उमड़ते आँसुओं को अपने साथियों की दृष्टि से छिपाने के लिए खिड़की से बाहर विस्फारित नेत्रों से देखने लगा था । और दूर नीचे पृथ्वी पर रेखा-सी पड़ी सड़क को देखकर सोचने लगा था कि शाम को उसी मार्ग से मरिएडा आएगी । छः बजे शाम तक या न जाने कितनी देर तक वह उसकी प्रतीक्षा करती रहेगी ।

अब वे सब पुरानी बातें उसके मस्तिष्क में बाढ़ के पानी की भाँति आकर उसके हृदय में एक हाहाकार-सा मचाने लगीं । वह चित्र उसकी पत्नी और उस पर-पुरुष का ही चित्र न था, बल्कि उसके लिए वह अपने जीवन की उन अमूल्य स्मृतियों की राख-सा, उसके विनाश का प्रत्यक्ष प्रदर्शन-सा

था। उस शाम को वह अनेक प्रयत्न करने पर भी उन पुरानी स्मृतियों से अपने को विलग न कर सका। नए छतरीबाजों को नित्य की भाँति पैराशूट से उतरना सिखलाने के लिए जब वह निकला, तो ठीक समय पर डोरी को झटका देने का 'काशन' भूल गया। चार सिपाहियों को गहरी चोटें आईं। एक का पाँव ही बेकार हो गया। अपने क्वार्टर में आकर उसने पत्रों को बिना देखे ही सिपाहियों को बाँट दिया। यह विचार उसके मस्तिष्क में प्रतिक्षण फिर-फिर छा जाता कि उसकी पत्नी उसे धोखा दे रही है।

बड़ी देर तक वह उस तस्वीर की ओर देखता रहा। कभी सोचता कि एक ही शक्ल के कई व्यक्ति होते हैं। नारियों के रूप-रंग में भी कभी-कभी आश्चर्यजनक समानता होती है। यह मरिण्डा ही की भाँति की कोई और युवती होगी। फिर इसी विचार को पुष्ट करने के हेतु वह उस तस्वीर की ओर देखता, तो उसके विचार की वह शृङ्खला एकाएक टूट जाती। वह उसी हवाई अड्डे का चित्र था, जहाँ उसने मरिण्डा को मिलने के लिए बुलाया था। वही पेड़, वही रेस्तराँ, वही सड़क! इतना सामञ्जस्य दो हवाई अड्डों में नहीं हो सकता।

फिर वह अपनी कुरूपता पर सोचता, सब स्त्रियाँ एक-सी होती हैं। मैं कभी किसी नारी का प्रेम-पात्र नहीं बन सका, वे सब सदा मुझसे बचती रहीं। किसी ने मुझे न चाहा! मरिण्डा तब नारी-जाति में अपवाद क्यों हो? उसे शायद मैं कतई पसन्द न था। ओहो, तब वह प्रेम-प्रदर्शन, वे मीठी-मीठी बातें, वे सारी उच्छृङ्खलताएँ, सब अभिनय-मात्र थीं। मरिण्डा इतनी लम्बी अवधि तक मुझे धोखा देती आई। वह किसी

और ही व्यक्ति की प्रेमिका थी। कैसा अन्धेर है! वह सारा नाटक उसने मुझे ठगने के लिए, केवल मुझसे रुपया लेने के लिए किया!

रात भर वह नए-नए विचार मन में लाता रहा। कभी अपने से कहता, डैनियल, तू कैसा मूर्ख है। जान-बूझकर भी तूने फिर धोखा खाया। विधाता ने तुझे नारियों के हेतु बनाया ही नहीं था। यह सब तुझे ज्ञात था। मरिण्डा का प्रेमी, उसका अपना पुरुष कोई और है। हाँ, वह कैसा व्यक्ति होगा? कब, कहाँ उसका मरिण्डा से प्रथम परिचय हुआ होगा? पोशाक तो उसने हवाबाजों की-सी ही पहन रखी थी। हमारे गाँव और उसके आस-पास तो कोई भी ऐसा सैनिक नहीं, जो हवाई बेड़े में नौकर हो। अपने जिले से बाहर मरिण्डा कभी नहीं गई। है भी वह स्वभावतः भोली और सीधी। तब उसे फुसलानेवाला यह व्यक्ति कौन होगा? स्वयं तो वह कभी किसी प्रेमी की खोज में निकली न होगी। होगा कोई। भला प्रेम-प्रदर्शन करने में क्या देर लगती है? मेरे जाने के दो ही दिन बाद उसने डाक्टर के साथ हवाई अड्डे पर आना-जाना आरम्भ कर दिया होगा। वहीं किसी वायुयान-विभाग में काम करनेवाले से आँखें लड़ गई होंगी। क्या सचमुच नारी का स्वभाव ऐसा ही होता है, इतना चंचल और ऐसा परिवर्त्तनशील?

फिर बिस्तर से उठकर, वह बिजली का स्विच दबाकर, कमरे में उजाला कर देता। वह तस्वीर उसके सन्देह को और पुष्ट कर देती। सम्पादक का शीर्षक 'अन्तिम आलिङ्गन' उसका उपहास-सा करता। अपनी वे प्रथम मिलन की स्मृतियाँ उसे असह्य लगतीं। तब पत्नी का वह स्निग्ध संकोच, वह

भयभीत चितवन, फिर दो ही दिन के परिचय के उपरान्त वह चंचलता, वह अनोखा आकर्षण, सब कुछ अब डैनियल को एक दुखान्त नाटक के अभिनय-सा लगता—ऐसा नाटक, जिसमें वही लूटा गया, उसी की मृत्यु हुई।

फिर बिस्तर पर चित लेटकर, वह फुसफुसाता, 'ओह, कैसा स्वप्न था वह!' वह उसे सत्य मानकर ही, यहाँ चला आया। कैसा छल, प्रपंच इस संसार में है। पर वह सैनिक है! उसे सब प्रकार की व्यथाओं को सहकर व्यथित हृदय के रोदन को अपने वीरत्व से दमन करके अपने कर्त्तव्य का पालन करना है। संसार में उसका कोई अपना नहीं। केवल कर्त्तव्य के आगे उसे सिर नवाना है। हृदय की यह व्यथा भी उसे एक अनुभव प्रदान कर गई है। स्त्री-प्रेम की अनिश्चितता का यह पाठ उसे और भी कर्त्तव्यपरायण बनाने में सहायक होगा।

इस विचार ने उसे सान्त्वना दी, और रात्रि के उस अन्तिम प्रहर में वह दो घण्टे शान्ति से सो सका। उठते ही उसे फिर मारिण्डा का स्मरण हो आया। सचमुच मरिण्डा नाम तो उसके रक्त की बूंद-बूंद में रम गया है। एक-एक रक्त-नली अपने स्पन्दन में बेतार की उन खूटियों-सी संक्षेप में इसी नाम का उच्चारण करती है। सारा रक्त, सारा शरीर इसी विष से व्याप्त है। सुल्फा ड्रग्स की बड़ी से बड़ी मात्रा खाकर भी रक्त को उस विष से मुक्त करना कठिन है। तभी तो यह नाम उसकी जीभ पर अनायास ही, सोते-जागते, उठते-बैठते आ जाता है। आज भी उठकर, वह अपने नित्य कार्य करते-करते अपनी सहज प्रकृति के कारण 'मरिण्डा' 'मरिण्डा' 'मरिण्डा' गुनगुनाने लग गया। फिर-फिर अनायास ही वह फिल्मी गाना

उसकी जिह्वा पर आ जाता— 'किसको करता प्यार, मूरख तेरा कौन है...' तब इस गीत की मन्द-मन्द तान वह छेड़ देता। सब कुछ बिना उसके जाने ही हो जाता।.......

अब उसकी हालत अजीब हो गई। सुबह से शाम तक वह खूब व्यस्त रहने का प्रयत्न करता। उसे हँसी मजाक जरा भी न सुहाता। अपने रँगरूटों की चंचलता पर उसे चिढ़ लगती। थोड़ी-सी गलती पर भी वह उन्हें कड़ी परेड करा देता। पहले की भाँति वह अपने साथियों से हिल-मिलकर न रहता। बार-बार उसे ताने सुनने पड़ते। कोई उसे 'सनकी' कहता, कोई 'गम्भीरमत' और कोई 'एबसेंट माइंडेड'। वह स्वयं सोचता कि उसे अब कहीं नहीं जाना है। न उसका अपना कोई घर है, न कोई सम्बन्धी; जो कुछ है, वह सब पल्टन की नौकरी ही है। सदा वहीं, सेना में उसे रहना है।

कई दिन बाद फिर मरिण्डा का पत्र आया। पते पर उस परिचित शब्दावली को देखकर, उसने उसे नहीं खोला। वैसे ही दराज में डाल दिया। सोचा, इस सबसे मुझे अब क्या प्रयोजन? अब धोखे में न रहूँगा। पत्र को वैसे ही छोड़, वह अपने काम पर चला गया। नए भारतीय विमानों की प्रथम उड़ान थी। वह चालकों में से था। जहाज को लेकर वह धीरे-धीरे उड़ा। आधी ऊँचाई पर जाकर उसे पता चला कि इंजिन पूरा नहीं चल रहा है। उसने बिना दूसरे इंजिन को चालू किए ही, उसी बिगड़े इंजिन को ठीक करना चाहा। उस समय वह उस हवाई अड्डे पर इंजिन के बिगड़ जाने की अपनी उस दिन की प्रार्थना पर सोचने लग गया। विमान एकाएक नीचे गिरने लगा, और इससे पहले की वह किसी और इंजिन को चला सके, पेड़ों के सिरों तक आ पहुँचा। उसके सहायक ने

तत्काल चौथे बन्द इंजिन को चालित कर दिया। जहाज फिर उठने लगा। डैनियल अपनी असावधानी से घबराया-सा बोला—'बहुत बचे !....मरिण्डा-मरिण्डा!' फिर उस नाम के जिह्वा पर आते ही मन ही मन अपने को सम्बोधित करके वह बोला, "डेम इट ! चूल्हे-भाड़ में जाय मरिण्डा !" उसका साथी कभी उसे दाँत पीसते और कभी गुनगुनाते देख समझ गया कि सचमुच ही आज डैनियल का मन विक्षिप्त-सा है। उसे वायु-यान-चालक की-सी एकाग्रता का काम सौंपना खतरे से खाली नहीं है।

डैनियल के साथी ने उस घटना का वर्णन अपने अफसर से किया। अफसर ने तुरन्त ही डैनियल को 'ग्राउंड वर्क' देकर शिक्षण-कार्य से मुक्त कर दिया। अब उसका काम इंजिनों का निरीक्षण तथा चालकों की अदला-बदली का प्रबन्ध करना था।

पूरे चौबीस घण्टे बाद डैनियल ने पत्नी का वह पत्र खोला। मरिण्डा के स्नेह से ओत-प्रोत, विरह-दुख से व्याकुल शब्दों को देखकर वह दंग रह गया। 'तो क्या वह मेरी बेचैनी व्यर्थ थी ? पत्नी सदा की भाँति मेरी अपनी ही है ?' यह बात उसके मन में नई आशा-सी उत्पन्न करने लगी। वह सब भ्रम था, या यह सब धोखा है ? पत्नी ने उससे जल्दी छुट्टी लेकर आने का आग्रह किया है। वह आग्रह इतनी बार और इतनी मार्मिकता से किया गया है कि डैनियल की समझ में पर-पुरुष के प्रेमालिंगन में आबद्ध एक नारी ऐसा सफल अभि-नय कभी नहीं कर सकती, विशेषतः ऐसे अवसर पर, जब कि अभिनय का एकमात्र दर्शक (वह) परोक्ष में हो। तस्वीर की वह युवती मरिण्डा नहीं है, इस बात को सत्य मानकर डैनियल अपने मन को शान्त करने लगा। उस सप्ताह के अन्त में जब

उसके अफसर ने उसके सम्मुख छुट्टी का प्रस्ताव रखा, तो वह प्रसन्न होकर घर जाने को तत्पर हो गया, यद्यपि एक ही सप्ताह पूर्व वह छुट्टी लेना अस्वीकार कर चुका था।

घर लौटते समय उसने निश्चय किया कि वह उस तस्वीर के सम्बन्ध में मरिण्डा से कुछ न कहेगा। धीरे-धीरे सभी बातें उसे ज्ञात हो जायँगी। कभी स्वयं वे दोनों भ्रमणार्थ उसी मैदान की ओर जायँगे। तस्वीर भी साथ रहेगी। तस्वीर को वह वहीं पर पत्नी को दिखलाएगा। इस प्रकार मरिण्डा यदि सचमुच ही उस तस्वीर में हुई, तो एकाएक उससे कुछ न छिपा सकेगी। रहस्य के खुलने पर, वह मरिण्डा को फटकारेगा नहीं। यदि पत्नी ने क्षमा-याचना की, तो निश्चय ही सच्चे ईसाई की भाँति उसे क्षमा कर देगा। केवल उसे सच्चे मन से क्षमा प्रार्थना करनी होगी।

(३)

तीन दिन की यात्रा के उपरान्त, डैनियल घर पहुँचा। उस चित्र से उत्पन्न बेचैनी को वह यथा-शक्ति दमन करने की चेष्टा करके, घर के अन्दर प्रविष्ट हुआ। उसने अपने आने की तारीख जान-बूझकर नहीं बतलाई थी। अचानक ही उसके आ जाने से उसके माता-पिता किसी अशुभ आशा से भयभीत हो गए। पिताजी ने सोचा कि युद्ध समाप्त-प्राय है। शायद उसका लड़का भी अलग कर दिया गया। वह विवाहित है। अब कैसे उसका निर्वाह होगा? माँ ने सोचा, 'नहीं, मरिण्डा ने अपनी उस जरा-सी अस्वस्थता का अतिरंजित वर्णन करके तो लड़के को पत्र नहीं लिख दिया, जिससे वह इतनी जल्दी लौट आया? यह उसने ठीक नहीं किया।'

डैनियल कमरे में अपनी लाई हुई वस्तुओं को एक ओर रखकर, अपनी पत्नी के आगमन की आतुरता से प्रतीक्षा करने लगा। पर मरिएडा देर तक न आई। रसोई में पदचाप सुनाई दे रही थी। बार-बार दहलीज तक किसी के आने का शब्द उसके कानों में पड़ता था, पर वह उसके कमरे में आती न थी। थोड़ी देर में उसकी माँ उसके पास ही बैठ गई। फिर बूढ़े पादरी ने भी अपनी कुर्सी वहीं खिसका ली। मरिएडा तब भी न आई। वे लोग उससे लड़ाई की बातें पूछने लगे। दुर्घटनाओं के रोमांचकारी वर्णनों को सुनने के लिए जिज्ञासापूर्ण प्रश्न करने लगे। पर वह 'हाँ' 'न' जैसे एकाक्षरीय उत्तर देकर टालता रहा।

कई लम्बे क्षणों के उपरान्त तब मानो घने बादलों के पीछे से सूर्य एकाएक निकल पड़ा। मरिएडा ने चाय की ट्रे लिए, प्रवेश किया। पति की ओर क्षण भर निर्भीक दृष्टि डालकर, लजाती हुई, वह उसके समीप बैठ गई। वही, सारे परिवार में वही केवल उसके अचानक आगमन से प्रसन्न थी। 'वह क्यों आया, कैसे आया, यह भाव उसके चेहरे पर न था। शंकाकुल प्रसन्नता भी उसकी मुद्रा पर न थी। उस प्रफुल्ल मुद्रा में डैनियल ने स्पष्ट ही पढ़ा, मानो वह कह रही हो, तुम आ गए! तुमने ठीक किया! तुम भागकर आए, चाहे नौकरी से अलग होकर, या छुट्टी लेकर, इससे मुझे क्या? तुम आ गए, बड़ी कृपा की। यही मैं चाहती थी।

उस निष्कपट प्रफुल्ल मुद्रा से प्रभावित हो डैनियल सोचने लगा, 'कैसा भ्रम था। ऐसी सीधी और बालकों-सी भोली मरिएडा पर अविश्वास करना कितनी मूर्खता थी। उस शंका ने मुझे अधमरा कर दिया। वह सब व्यर्थ था।'

शाम को बातों-बातों में डैनियल ने उस दिन की हवाई अड्डे की वह बात छेड़ दी। मरिएडा ने पति से कहा—"सचमुच उस दिन हवाई मैदान में मेरी बड़ी बुरी दशा हो गई। विमान उतरा, और सैनिक इधर-उधर टहलने लगे। सभी एक ही प्रकार की वर्दी पहने थे। मैं आपको ढूँढ़ने के लिए कभी एक सैनिक के सम्मुख जाती, और कभी दूसरे के। प्रतिक्षण यही भास होता कि 'अरे यह नहीं, वे दूसरे मेरे पति डैनियल हैं।' प्रतिबार द्विगुणित उत्साह से आगे बढ़ती, और गहनतर निराशा लिये लौट आती। विमान के उड़ने का समय ज्यों-ज्यों निकट आता जाता, आपको न ढूँढ़ सकने के कारण निराशा और घबराहट बढ़ती ही जाती। घबराकर काँपती हुई, मैं दौड़कर एक नये सैनिक के सम्मुख ठीक उसी की ओर ताकती बढ़ जाती, पर उसे भी आप-सा न पाकर, फिर और भी घबराकर दूसरे की ओर लपकती। कमरे में बन्द हुई गौरैया की भाँति, जो कभी किसी बन्द काँच की खिड़की के आईनों पर उसे ही द्वार समझकर पंख मारती है और चोट खाकर गिरती है, फिर दूसरे पारदर्शक काँच से तेजी से बाहर निकलने का प्रयत्न करती है, मैं भी भटकती और ठोकर खाती रही। जब पाइलट ने सीटी मुँह पर लगाकर कहा, कि दो मिनट बाकी हैं। सब लोग तैयार रहें, तो उसी समय एक सैनिक को, आपही को समझकर, प्रसन्नता से आगे बढ़ी। पर वह भी आप न थे। तब फिर मैं वायुयान के दूसरी ओर गई। वहाँ एक सैनिक अकेला उदास खड़ा था। मैं उसी की ओर बढ़ी। सोचा, 'आप इतनी देर तक गाँव के इस मार्ग की ओर आँखें लगाए, मेरी ही प्रतीक्षा में थे, और मैं दूसरी ओर आपको ढूँढ़ रही थी।' वह सैनिक मेरी आहट पाकर तुरन्त ही मेरी ओर बढ़ा, और

उसने मुझे प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध कर लिया ! मैं उस क्षण आँखें मूँदे सोचती रही, 'डैनियल डार्लिङ्ग अब धोखा न देना। अब की बार यह तुम ही हो। मैं तुम्हें पहचान गई। जाओ, तुम्हारे जहाज ने सीटी दे दी है।' सीटी सुनते ही, वह मुझसे बिछुड़कर चला गया। पर मैंने डबडबाती आँखें फिर भी न खोलीं कि कहीं मेरी आँखें फिर मुझे धोखा न दें, और वह भी कोई दूसरा ही व्यक्ति न निकल जाय। विमान की घर्राहट सुनकर, मैंने आँखें मूँदे ही, रूमाल हिलाकर कहा, 'विदा डैनियल ! अलविदा, प्रियतम !' उत्तर में मैंने सुना, 'मेरी मधु, मेरी मरिण्डा, विदा !' वह स्वर तो आपका ही था। तत्काल आँखें खोलकर, मैंने उड़ते हुए विमान की ओर देखा। सब सैनिक एक-से थे। उनमें कौन आप हैं, यह पहचानना कठिन था।"

खिसियाकर डैनियल ने कहा—"पर मैं तो, जैसा मैंने तुमको लिखा था, उस दिन सुबह ही चला गया था। शाम को तुमसे मिलनेवाला मैं न था।"

मरिण्डा ने अपनी निर्भीक हँसी के साथ कहा—"अब क्यों मेरा उपहास करते हो ? मैं भला कैसे विश्वास करूँ कि वह तुम न थे ? मुझे इस भाँति छकाया न करो। ऐसी बातें तो मुझे अच्छी नहीं लगतीं।"

डैनियल पत्नी की ओर निरुत्तर हो देखता रहा।

वह कहती गई—"उस क्षण की वह आतुरतापूर्ण विदाई मेरी सारी निराशा को दूर कर गई, और पूरे एक मास तक मैं तुम्हारे ही स्वप्न देखती रही। तुम वहाँ मिल गए थे, यही बात मैंने घर आकर सास-ससुर से भी कही थी।"

डैनियल ने कुंठित मन से कहा—"सचमुच वह मैं न

था। तुमने गलती की। मैंने तो पत्र में भी ठीक बात ही लिखी थी।"

"नहीं," मरिण्डा ने कहा—"मैंने तो तुम्हारा ही आलिंगन किया था। अच्छा, मान लो कि वह शरीर तुम्हारा न था, पर मेरी समस्त भावना और चेतना तो उस समय तुममें लगी थी। वह आपका ही रूप था, आपकी ही वाणी थी।"

पत्नी की डबडबाई, सुन्दर, आँखों में अपना काला प्रति-बिम्ब देख, उसे अपनी ओर खींचते हुए डैनियल ने कहा—"मरिण्डा, तुम बड़ी सीधी हो, बड़ी भोली!"

मरिण्डा ने देखा, पति के नेत्रों से सन्देह की वह छाया दूर हो चुकी थी।

———

संकल्प-विकल्प

विश्वनाथ के हाथ से अखबार गिर गया। वह कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और एक असह्य पीड़ा से व्याकुल-सा कमरे का चक्कर लगाने लगा। बीच-बीच में वह फर्श पर पैर पटकता और अपने ही को सम्बोधित करके कहता—'अच्छा, तो विमला जीवित है। उसका बच्चा भी है। वह महिला-आश्रम में है।'

कमरे के व्यर्थ ही कई चक्कर लगाकर बार-बार वही एक बात अपने ही से कहकर तथा अपने कानों से सुनकर भी मानो गूढ़ स्मृति के से सूत्र इस समाचार को वह समझ न सका और पास ही चारपाई पर चित्त लेटकर फिर छत की ओर दृष्टि गड़ाए कहने लगा—'वह जीवित है। विमला मेरी पत्नी, और उसके बच्चा हुआ है।' फिर इसी एक बात को वह कभी हौले-हौले, कभी जोर-जोर से, कभी आँखें मूँदकर चित्त लेटे और कभी फिर करवट बदलकर एक ओर से दूसरी ओर लुढ़कता हुआ। अपने से ही कहता; पर फिर भी मानो इस समाचार को पूर्णरूप से हृदयंगम न कर सकता।

तब चारपाई से उठकर वह कमरे के खुले दरवाजे तक गया। व्यर्थ ही उसने कमरे के बाहर झाँककर देखा। वहाँ अस्पताल में उसके फूफा किसी कमरे में बैठे होंगे। रोगी आते-जाते दीख रहे थे, पर उसका ध्यान उस ओर नहीं गया। उसने

फिर अपने से ही कहा—'यह सत्य है। विमला नवजात शिशु सहित उस महिला-आश्रम में है।' सोए हुए व्यक्ति की भाँति फिर उसने आँखें बन्द कीं और खोलीं। 'ओ हो, यह बात है!' कहकर वह फिर कुर्सी पर बैठ गया। बात को किंचित् सी समझकर उसने अनुभव किया कि सारे शरीर में एक प्रकार की अस्पष्ट व्यथा रक्त से घुल-मिलकर उसके हृदय में तूफान मचा रही है। अब तक पिछले वर्ष से खोई हुई विमला के विषय में उसकी उत्सुकता, एक गुप्त काँटे की भाँति उसे मन-ही मन पीड़ित करती थी; अब वह पीड़ा एक जलते हुए भाले के घाव की तरह असह्य हो गई है।

फिर वह अपने ही से कहने लगा—'हाँ, तो वह जीवित है। नहीं, वह मर गई। मेरे लिए तो वह मर गई। मेरी पत्नी विमला अब नहीं रही।'

अपनी असह्य वेदना तथा झुंझलाहट का संवरण न कर सकने के कारण उसने फिर उस अखबार में छपी अपहृत महिलाओं की उस सूची को देखा। इसी आशा से वह उन नामों को पढ़ने लगा कि वह विवरण उसकी पत्नी विमला का नहीं, किसी और, उसी नाम की विमला का है। उसने दुबारा उस विवरण को पढ़ा :

'विमला, आयु लगभग २० वर्ष, पुत्री प्रो० श्यामबिहारी लाल, लाहौर, नवजात शिशु साथ में है। अपने को मुलतान निवासी श्री विश्वनाथ की धर्मपत्नी बतलाती है।'

'विश्वनाथ की धर्मपत्नी, विमला। यह वही है, वही।' उसने फिर मन ही मन कहा और अतीत की स्मृतियाँ जल्दी-जल्दी उसके मस्तिष्क में उतरने लगीं। मई के महीने में पिछले ही वर्ष उसका विवाह हुआ था। अपनी पत्नी के साथ केवल

छः सात दिन ही वह रहा था। उसके उपरान्त उसे मुलतान छोड़कर सिविल इंजीनियरिङ्ग की प्रतियोगिता में बैठने कराची जाना पड़ा था। विश्वनाथ उस अपनी पत्नी विमला को बच-पन से ही जानता था। तब उसके पिता मुलतान के उर्दू स्कूल के हेडमास्टर थे। वह उसकी बड़ी बहिन के साथ खेलने आया करती थी। विवाह के पूर्व वह विश्वनाथ से किंचित् भी न लजाती थी; पर विवाह के उपरान्त उसे विश्वनाथ के सम्मुख आने में बड़ी लज्जा लगती थी। विश्वनाथ भी विवाह के उप-रान्त उन छः सात दिनों में विमला से बातचीत न कर सका था। घर में बहुत से पाहुने थे। कभी पति-पत्नी में केवल चित-वनों का आदान-प्रदान हो जाता था। कभी हल्की-सी मुसक-राहट द्वारा वे एक दूसरे का अभिवादन-सा कर लेते थे। वे मुस्कानें उन दोनों के मध्य कभी-कभी क्षणिक ज्योति-सी एक नए ही अज्ञात तथा सुखद संसार की गहराई को दीप्त करके उन्हें पुलकित कर देती थीं। जब उसके कराची जाने को केवल एक दिन शेष रह गया था और जाने से पूर्व विमला से खुलकर बात न कर सकने के कारण वह झुँझलाकर बैठक के कमरे में शाम तक बैठा पढ़ने का उपक्रम कर रहा था, तभी विमला लैम्प जलाने आ गई थी। वह अकेली थी।

लैम्प उठाकर विमला जाने को हुई, तब भी उससे कुछ कहने का साहस उसे न हुआ था। वह सोच रहा था कि विमला स्वयं कुछ कहेगी; पर जब वह लैम्प उठाकर कमरे के दरवाजे तक चली गई, तो विश्वनाथ ने हौले से पुकारा—'जरा रुको, शायद दिया सलाई मेरे पास है।' यह बिलकुल असत्य था। पर जब विमला तत्काल रुककर मुड़ गई, तो वह व्यर्थ ही अपनी जेबों को दोनों हाथों से बजाता हुआ हक्का-बक्का-सा खड़ा रह गया था।

"सिगरेट पीना कब से सीख लिया ?" विमला ने पूछा था।

"सिगरेट ? सिगरेट तो मैं नहीं पीता।" विश्वनाथ ने कहा था।

"तब दियासलाई जेब में रखने की क्या आवश्यकता पड़ी ?" विमला ने पूछा था और वह विश्वनाथ की घबराहट को देखकर मुस्करा दी थी। विश्वनाथ को भी हँसी आगई। उसने क्षण भर चुप रहकर कहा था—"मैं कल कराची जा रहा हूँ।"

"वह तो मालूम है।"विमला ने कहा था।

"तुम्हें इतनी जल्दी छोड़कर जाने में बड़ा दुःख हो रहा है," विश्वनाथ ने कहा था—"जाने की किंचित् भी इच्छा नहीं होती।"

"यह कैसी बात कह रहे हैं आप ?" विमला ने किंचित् दृढ़ता से कहा था—"मैं नहीं जानती थी कि आपका दिल इतना छोटा है। पुरुष होकर भी आप यह स्त्रियों की सी बात कर रहे हैं। कराची तो आपको अपनी नौकरी और अपने भविष्य के लिए जाना ही चाहिए।"

पत्नी की दृढ़ता से विश्वनाथ चकित रह गया था। वह उसकी आँखों की ओर देखता ही रह गया। तभी आहट पाकर विमला चली गई; पर उसकी चितवन में विश्वनाथ को स्पष्ट ही दीख पड़ा कि मानो वह कह रही हो—'मेरे लिए तथा दूसरों के लिए आप जायँ, यही आपका कर्त्तव्य है। यही पुरुषोचित भी है। न जाना कायरता होगी।'

आज तक, अब भी जब कभी, विश्वनाथ विमला के विषय

में सोचता था, तो उसकी सौन्दर्य-मूर्त्ति विश्वनाथ की कल्पना में साक्षात् सी भूलने लगती थी। उसकी कमर तक भूलती वे काली लटें; किंचित् झुके कन्धों पर वह सुन्दर चेहरा, बालकों की सी सरल निर्बोध आँखें, वर्त्तुलाकर मुद्रा पर वह दया का भाव, सब कुछ अब भी सजीव हो उठता था।

कराची जाकर विश्वनाथ अपनी पुस्तकों में तल्लीनता से जुट गया। उसके विवाह ने उसे अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग बना दिया। वह सोचने लगा कि विमला जैसी सुन्दरी को पानेवाला व्यक्ति निश्चय ही सब दुर्गुणों से मुक्त होना चाहिए और उसमें कुछ न कुछ विशेषता अवश्य होनी चाहिए, अतः वह भरसक प्रयत्न करने लगा कि उस प्रतियोगिता में सफल हो सके। साथ ही वह एक आदर्श जीवन भी व्यतीत करने लगा था। पहले की भाँति न तो वह रात-दिन सोता ही और न रात को सिनेमा देखने जाता था। अपनी पत्नी को पत्र लिखने को उसे बार-बार इच्छा होती थी; पर वह अपने को संयमशील बनाने के प्रयत्न में प्रतिमास केवल एक ही बार उसे पत्र लिखता था—वह भी जब विमला स्वयं अपने पत्र का उत्तर देने की प्रार्थना करती थी।

परीक्षा में उसके पर्चे अच्छे हुए और इसी बीच उसे पंजाब के दंगों का समाचार मिला। वह विचलित न हुआ। उसके पिता की हिन्दू-मुसलमान दोनों से बनी मैत्री थी। उसने सोचा कि अपने शहर में वह सदा की भाँति दोनों जातियों में सहृदयता की भावना स्थापित कर लेंगे। फिर एक दिन उसे वह पत्र मिला। वह कई सप्ताह पूर्व का लिखा था और असाधारण देरी के उपरान्त उसे मिला था। उसमें मुलतान के भयंकर बलवे की खबर थी। उसके माता-पिता शहर छोड़कर गाँव

की ओर चले गए थे। तब विश्वनाथ की चिन्ता बढ़ गई थी। उसने उसी दिन पत्र लिखा था और अधीरता से उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा था। पर कई दिन बीत गए, कोई उत्तर न आया था। फिर वह प्रतिदिन किसी-न-किसी परिचित को एक-न एक पत्र अवश्य लिखता। प्रतिदिन उत्तर की आशा में रहता, पर उत्तर कभी उसे प्राप्त नहीं होता था।

निराश होकर दूसरे सप्ताह उसने अमृतसर, देहली तथा दूसरे कई स्थानों को अपने परिचितों तथा सम्बन्धियों को पत्र लिखे थे; पर कहीं से कोई जवाब नहीं मिला था। उधर कराची की दशा भी बिगड़ने लगी थी। भीषण दंगों के कारण एक शाम कुछ सिन्धी छात्रों के साथ वह बम्बई को रवाना हो गया, और फिर अपने फूफा के पास देहली चला आया था। उसके फूफा का नाम सुखदेव था और वे एक अस्पताल में डाक्टर थे। विश्वनाथ ने देहली में भी अपने माता-पिता तथा पत्नी के विषय में खोज करना जारी रखा था। वह सभी शरणार्थी-कैम्पों में जाता था और अपने तथा आसपास के शहरों के लोगों से पूछता; पर सफलता उसे नहीं मिली।

उसकी व्यग्रता देखकर कभी कोई शरणार्थी कहता—'हाँ भाई, मुलतान की उस मारदोड़ में तो बड़े जोर का बलवा हुआ था।' और कभी कोई दूसरा व्यक्ति उसे सान्त्वना देते हुए कहता था, 'ढूँढ़ते रहो, अखबार में छपवा दो और शरणार्थी शिविरों को छान डालो। शायद कहीं पता मिल जाय।'

विश्वनाथ साल भर तक यही करता रहा; पर कहीं से उसे किंचित् भी समाचार अपने परिवार का न मिला। एक बार उसे अपने उर्दू स्कूल के एक पुराने अध्यापक मिले थे। उनकी दशा

अच्छी न थी। पत्नी और लड़के को खो देने के कारण वे विक्षिप्त-से हो गए थे। उन्होंने अर्द्धविक्षिप्त, अर्द्धजागृत अवस्था में कहा था—"तुम्हारी माँ बीमार थीं। शायद इसीलिए तुम्हारे पिता वहाँ से न भाग पाए थे। तुम्हारी विधवा दीदी भी तब कैसे अपने माता-पिता को छोड़ती? उन सबका वहीं अन्त हो गया होगा।" ऐसा कहते-कहते उनकी हिचकियाँ बँध गई थीं। विश्वनाथ भी रोने लगा था। उसके मन में अनेक प्रश्न उठे थे—'दीदी विधवा? कब हुई वह विधवा? बलवे के समय विमला कहाँ थी? वह दंगों के पहले मायके चली गई थी या वहीं थी?' पर वृद्ध तब तक अपने पुत्र के विषय में प्रलाप करने लगे थे। उनका हाथ बराबर 'राम, हा राम' कहते हुए अपने सीने पर चला जाता था। सीने में चोट थी, यह बात उस समय विश्वनाथ जान भी न पाया था। दूसरे दिन जब वह फिर उनसे मिलने गया और उनकी रात ही को मृत्यु हो गई, यह समाचार उसे मिला, तब उसे ज्ञात हुआ कि उसी छाती की चोट के कारण जिसका अन्तिम समय तक उपचार करना उन्हें स्वीकार न था, उनका शरणार्थी-शिविर-अस्पताल में देहान्त हो गया।

फिर भी विश्वनाथ ने अपने परिवार के विषय में जानने के लिए नित नए प्रयत्न किए थे; किन्तु सफलता नहीं मिली थी। कहीं भी उनके जीवित रहने की आशा न देखकर वह स्वयं भी आत्महत्या करने की सोचने लगा था विगत ग्यारह महीनों का जीवन उसे अपने जीवन के शेष बीस वर्षों से भी अधिक दीर्घ ज्ञात हुआ। वह बहुधा सोचता, 'जो मेरे लिए जीवन था, वह तो समाप्त होगया। अब केवल मृत्यु की ही शून्यता शेष रह गई है। जीना अब निरर्थक और उद्देश्यहीन

होने के कारण मृत्यु का ही एक रूप है। जितनी शीघ्रता से वास्तविक मृत्यु तक मैं पहुँच जाऊँ, उतना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।"

इसी निराशा के बीच एक दिन उसे वह सरकारी लिफाफा मिला। पता निश्चय ही उसी का था, अतः यह भ्रम करना कि पोस्टमैन गलती से उसे वह पत्र दे गया, निर्मूल था। फिर भी शायद, यह किसी दूसरे विश्वनाथ का पत्र है और मैं इसे खोलने की अनधिकार चेष्टा कर रहा हूँ, इस भावना से हिचकिचाते हुए उसने उस पत्र को खोला। पत्र उसी का था। उसे प्रान्तीय निर्माण विभाग में एक सहायक इंजीनियर का पद प्रदान किया जारहा था तथा इण्टरव्यू के लिए बुलाया गया था। इस नियुक्ति की आशा से भी उसका मन प्रसन्न न हुआ। असीम निराशा के मध्य वह क्षणिक ज्योति उसकी निराशा को ही उग्रतर करने का कारण उसे ज्ञात हुई। अब तक वह अन्धकार में बिना किसी प्रकाश का अवलम्ब लिये ही चल रहा था। अब क्षणिक प्रकाश के उपरान्त अँधेरा और भी घना और अगम्य-सा होगया था और एक पग भी आगे बढ़ना सम्भव न जान पड़ता था। उस नियुक्ति-पत्र की प्राप्ति के उपरान्त घर के भीतर वह केवल एक अनाहूत मेहमान से अधिक सत्कार पाने लगा था। उसकी फूफी को अब तक तो वह फूटा आँखों न सुहाता था; पर अब वह भी उसके खाने-पीने और सोने-बैठने की चिन्ता करने लगी थी। पर विश्वनाथ अपने दैनिक जीवन के प्रति पहले से भी अधिक असावधान हो गया। ऐसी ही अनिश्चित भावनाओं में, जब वह कभी इंटरव्यू के लिए जाने की सोचता और कभी सब कुछ छोड़कर अपना ही जीवन समाप्त कर देने का संकल्प करता, तब उसे विमला के विषय में वह समाचार मिला।

अखबार अब भी विश्वनाथ के हाथ में था। एक बार फिर उसी सूची को देखकर उसने मन ही मन कहा—'नहीं, अब वह मेरी पत्नी नहीं रही। उसे अब ढूँढ़ना व्यर्थ है। यही मेरा अन्तिम निर्णय है—अन्तिम और अटल निर्णय।' अखबार को मोड़कर उसने दराज में बन्द कर दिया, मानो उसमें कुछ भी सार न रहा और जो कुछ उसके मतलब की बात उसमें थी, वह सब सूखकर नष्ट हो गई।

कमरे का एक और चक्कर लगाकर वह सोचने लगा—'क्या यह सच है? क्या विमला जान-बूझकर इस झमेले में पड़ी है? नहीं।' पर जो भी हो, उस समय उसकी मानसिक अवस्था ऐसी हो गई थी कि उसमें माया-ममता के लिए किंचित् भी स्थान न था। क्रोध अथवा घृणा करने की भी सामर्थ्य उसमें न थी।

कुर्सी पर बैठकर उसे फिर संदेह हुआ कि यदि विमला को वह अपनी पूर्व पत्नी के रूप में न स्वीकार करके केवल एक पूर्वपरिचिता अबला ही मान ले, तो शायद ऐसी भावना उसके मन में न रहेगी। न सही पत्नी, पर उसकी परिचिता तो वह है। उसके लिए वह एक काम कर सकता है। वह इसके जीविकोपार्जन की व्यवस्था कर सकता है। यदि उसकी नौकरी लग जाए, तो प्रतिमास अपना आधा वेतन उसके लिए दे सकता है।

'बस, इतना ही मैं कर सकता हूँ।' उसने फिर उठते हुए अपने ही से कहा—'एक ही स्थान में, एक ही छत के नीचे उसके साथ रहना तो अब असम्भव है। रुपया मैं प्रतिमास अपने किसी मित्र को दे दूँगा। वही उसके पास भेज देगा। वह मेरे विषय में कुछ भी न जान सकेगी।'

उसी समय डाक्टर सुखदेव घबराए हुए कमरे में आ गए। उनके हाथ में वही अखबार था, जिसे विश्वनाथ दराज़ में बन्द कर चुका था

"देखा तुमने ? देख लिया इस अखबार में ?" जल्दी-जल्दी डाक्टर कहने लगे—"तुम्हारी धर्म पत्नी का समाचार छपा है।"

विश्वनाथ खड़ा था, खड़ा ही रहा, हिलडुल भी न सका। केवल उसकी मुद्रा विवर्ण होती गई। वह एकटक डाक्टर की वेश-भूषा की ओर ताकता रहा। अपनी उत्तेजना में डाक्टर ने कपड़े भी न बदले थे और अस्पताल का वह लम्बा, सफेद कोट ही उनके कन्धों पर था। कमर से सफेद अप्रौन (झाड़न) लटक रहा था।

'धर्मपत्नी' शब्द को अपने फूफा द्वारा विमला के लिए प्रयुक्त होते सुन, वह केवल 'धर्म' और 'पत्नी' की मन-ही मन शास्त्रीय व्युत्पत्ति करके इस शब्द के वास्तविक अर्थ को सोचकर अपनी पत्नी की वर्त्तमान दशा की वास्तविकता से उस व्युत्पत्ति की ज्यों-ज्यों तुलना करने लगा, एक अव्यक्त और अबाध लज्जा के भारी भार से त्यों-त्यों उसका मन और शरीर अवश और अवनत-सा होने लगा। एक तन्द्रा-सी आकर उसे मूर्च्छित करने लगी।

डाक्टर को विश्वनाथ के इस व्यवहार से बड़ा आश्चर्य हुआ। आज ही सुबह तक तो वह अपनी पत्नी की बड़ी प्रशंसा कर रहा था और उसके विषय में इतना चिंतित था। अब इतनी शीघ्रता से उसका यह भाव-परिवर्त्तन डाक्टर की समझ में न आया। वे सोचने लगे—ऐसी भी ईर्ष्या क्या ? इतने दिनों तक पराश्रय में रहना ही क्या विश्वनाथ को विच-

लिल कर रहा है ?' वास्तव में उन्होंने अखबार में छपा पूरा विवरण पढ़ा ही न था। अपनी अत्यधिक उत्तेजना में वे पूरा विवरण पढ़ ही न पाए थे। 'विमला, 'विश्वनाथ', 'प्रोफेसर श्यामबिहारी' इन्हीं तीन शब्दों पर उनकी दृष्टि अटकी थी। अब भी उन्होंने यही सोचा कि इतने दिनों तक पत्नी के माता-पिता तथा अन्य पारिवारिक लोगों से बिछुड़कर अकेले अपरिचित लोगों के साथ रहने ही से क्या विश्वनाथ उसे बुलाने में हिचकिचाता है ? ऐसा तो इस संक्रान्ति-काल में होता ही है। कई ऐसी युवतियाँ हैं, वे सब पतिता ही हैं, यह कहना ठीक नहीं।

"अभी जाओ, उसे ले आओ।" डाक्टर ने कहा—"क्या मैं भी चलूँ ?"

एक निःश्वास लेकर विश्वनाथ ने कहा—'नहीं, अब वह मेरी पत्नी नहीं है। अब उससे मुझे क्या लेना है ?' विश्वनाथ का गला रुँध गया और सिसकियाँ बँध गईं। अब तक मानो वह आकाश से गिरकर हवा में ही झूलता गिर रहा था, अब कठोर भूमि का आघात लगने पर उसे भौतिक पीड़ा का अनुभव हुआ और रुके हुए आँसू अबाध वेग से उमड़ पड़े। वह कुछ न कह पाया। केवल डाक्टर के हाथ से अखबार लेकर उसने उसे मेज पर फैला दिया और पत्नी के उस छपे विवरण की तीसरी पंक्ति पर उसने अपनी उँगली फिरा दी। लिखा था:—'एक नवजात शिशु सहित।'

डाक्टर ने पढ़ा और स्वयं अपनी जल्दबाजी के कारण उन्हें अपने ही ऊपर लज्जा आने लगी कि बिना पूरा विवरण पढ़े ही वे क्यों भागे-भागे घर आए। थोड़ी देर वे भी निर्वाक्

खड़े रहकर बोले – 'सचमुच यह तो बड़ा दुखपूर्ण विषय है। मुझे उसकी दयनीय दशा पर बड़ा दुख है। आहो, यह तो निश्चय ही एक भयानक परिस्थिति है।'

विश्वनाथ ने मन ही मन उन्हीं के शब्दों को दोहराया—बड़ी भयानक परिस्थिति, दयनीय दशा। वह सोचने लगा – 'विमला की दशा न तो दयनीय है, न दुखमय। दया का पात्र हूँ तो मैं। आह, कितना दुख है; कितना भयङ्कर कष्ट है मुझे!'

अन्तिम शब्द उसने अपनी व्यथा में जोर से उच्चारण कर दिए। सुनकर डाक्टर ने दयार्द्र होकर कहा—"सचमुच यह कष्ट का विषय है।"

क्षण भर स्थिर भाव से प्रतीक्षा करके कि विश्वनाथ इस परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए अब क्या उपाय बतलाता है, उसके मन में क्या है, वे बोले—"खैर, इस समय तुम स्वस्थ होकर बैठो। फिर इस विषय में निश्चय हो जायगा। मैं अस्पताल का काम छोड़कर चला आया हूँ। इस समय जाता हूँ। सचमुच मुझे बड़ा अफसोस है, पर ऐसी परिस्थिति में किया क्या जाय? शाम को हम लोग कुछ निर्णय कर लेंगे।" कहते-कहते डाक्टर मकान के अन्दर चले गए। उन्होंने अन्दर जाकर संक्षेप में अपनी पत्नी को सब बातें समझा दीं और कह दिया कि वह विश्वनाथ की देख-रेख करती रहे।

डाक्टर के चले जाने पर विश्वनाथ सोचने लगा – डाक्टर कहते हैं कि शाम को निर्णय कर लेंगे। उनको सारा मामला इतना सरल लगता है कि शाम को ही उसका निर्णय सम्भव जान पड़ता है। मेरी कठिनाई से वे अवगत नहीं हैं। वे क्या जानें कि मैं विमला का कितना प्यार करता था। आह, मैं कितना अभागा हूँ! यह समाचार मेरे लिए कितना असह्य है!

माँ-बाप का पता नहीं। बहिन की भी कोई खबर नहीं। पत्नी का पता चला, तो ऐसी असंगत बात बीच में आ गई। विमला ने अपनी रक्षा क्यों नहीं की? यदि वह रक्षा नहीं कर सकी थी, तो स्वयं क्यों न मर गई? ऐसी आत्मरक्षणार्थ मृत्यु ही उसकी सबसे से अच्छी मृत्यु होती। इससे मुझे शान्ति मिल जाती। यह सब सोचते-सोचते वह यह भी भूल गया कि अभी घंटे भर पहले उसने अपनी आधी तनख्वाह विमला के जीवकोपार्जनार्थ देने का निश्चय किया था।

उसकी फूफी संवेदना प्रकट करने के लिए जब उसके कमरे में आई, तो विश्वनाथ ने अपनी मुद्रा पर गम्भीर आवरण-सा धारण कर लिया। फूफी की गोद में उसकी तीन वर्ष की लड़की कुसुम थी, जो रो रही थी।

"आप तो बच्चों को बड़ी जल्दी चुप करा देते हैं।" फूफी ने कहा—"कुसुम रो रही है। इसने समझा कि इसके पिताजी अस्पताल से वापस आ गए हैं और इसे अपने साथ घूमने ले जायँगे। अब उनके चले जाने पर यह रोना ही बन्द नहीं करती। बच्चों को पुचकारने की अपनी उस कला का जरा इस पर भी तो प्रयोग कीजिए।"

विश्वनाथ ने यथाशक्ति शान्त मुद्रा धारण करके कुसुम को गोद ले में लिया। उसकी फूफी मन-ही-मन सोचकर आई थी कि वह पूछेगी कि आज डाक्टर एकाएक अपना काम छोड़कर क्यों बीच ही में घर चले आये थे और इस प्रकार वह विमला के विषय में बात का सिलसिला आरम्भ कर लेना चाहती थी। पर विश्वनाथ के उस दुर्भेद्य गम्भीर मुखावरण से उसे कुछ पूछने का साहस न हुआ।

कुसुम को जल्दी-जल्दी दोनों हाथों से ऊँचा उछालकर

उसने शान्त कर दिया। वह कभी तो संकल्प कर रहा था कि विमला को बिलकुल ही भुला देना चाहिए और कभी यह सन्देह करता कि ऐसा करना अनुचित होगा। इन दो विरोधी भावनाओं का अन्तर्द्वन्द्व सा उसके मन-ही-मन चल रहा था। वह अपने ही से तर्क कर रहा कि वह निश्चय ही विमला को प्यार करता था। विमला के प्रति उसका प्रेम निःस्वार्थ था। क्या उसके प्रेम का उद्देश्य विमला के शरीर ही पर अधिकार करना था? नहीं, ऐसा कुत्सित विचार उसे कभी नहीं आया। बचपन में भी जब-जब वह विमला की ओर आकृष्ट हुआ, यही सोचकर कि उन दोनों का प्रेम केवल पवित्र निःस्वार्थ प्रेम होगा। शारीरिक अधिकार स्थापित करने की भावना तो अब भी उसके हृदय को घृणा से तिक्त कर देती है। विमला के भी विचार ऐसे ही थे। जानबूझकर उसने मेरा सर्वनाश नहीं किया।

'हाँ, तो वह अब एक बच्चे की माँ है। निश्चय ही उसने अत्यधिक शारीरिक यातना सही होगी। अपनी वासना की तृप्ति के लिए उसने मातृत्व को स्वीकार न किया होगा। वह ऐसी कुलटा न थी। गुण्डों के अत्याचार का ही यह परिणाम होगा। वह उनके चंगुल ही में फँसकर विवश हो गई होगी। क्या उन गुंडों को दंड देना सम्भव नहीं? नहीं नहीं, पुरुष के उस अत्याचार का दंड भोगती है नारी। ऐसे पाशविक अत्याचार के उपरान्त भी पुरुष किंचित् भी विचलित नहीं होते और अपना जीवन यापन करते रहते हैं। उन्हें अपने सुख के सम्मुख सारी दुनिया को दुःखित करने में संकोच नहीं होता। क्या मैं पाशविक सुख की कामना करता हूँ? नहीं, मैं तो ऐसे सुख की खोज में हूँ, जिससे सारा संसार सुखी हो। मेरा व्यक्तिगत

सुख सार्वजनिक सुख और वैभव का अंश होगा। यही तो मेरा उद्देश्य है।

'एक बात और है। क्या मैं विमला को धोखा देकर किसी और नारी से अपनी पाशविक वासना की तृप्ति के सम्बन्ध की कल्पना नहीं करता? यदि मैं ऐसा करूँ, तो मेरी पत्नी मुझे ग्रहण करेगी? ग्रहण? उसे बीच में पड़ने का अधिकार ही न रहेगा! हाँ, यही तो पुरुष समाज की व्यवस्था है। हमें स्वेच्छा से भी व्यभिचार करके कलंक नहीं छूता और उनका हम जैसे अत्याचारियों के हाथ पड़ जाना ही महाकलंक का कारण होता है। विमला ही ऐसे अत्याचार की शिकार बन गई और मैं उसे ग्रहण करने में असमर्थ हूँ।'

एक निःश्वास छोड़कर वह बच्ची से विनोदपूर्ण बातें करने लगा। फिर मन ही मन बड़बड़ाया—'लेकिन यह असम्भव है। उसको वापस करना असम्भव है। मैं उसे भूलने का प्रयत्न करूँगा। मैं 'उस किसी की माँ' और 'किसी की पत्नी' अस्थायी पत्नी ही सही—को अपनी पत्नी बना लूँ? नहीं, यह नहीं होगा।'

"खाना बन गया।" उसके कमरे में आकर फूफी ने कहा—"रसोई में चलोगे या यहीं भिजवा दूँ?"

सुनकर विश्वनाथ चौंक पड़ा, यद्यपि चौंकने योग्य उसके व्यवहार में कुछ न था। उसकी फूफी ने विश्वनाथ की मुद्रा पर असह्य वेदना की छाप स्पष्ट देखी। अब चौंककर मानो वह गम्भीर मुखावरण सा पहनने का प्रयत्न करने में नितान्त असफल होने पर लज्जित-सा हो रहा था।

बिना सोचे विश्वनाथ ने कहा 'हाँ, मैं रसोई में आ रहा

हूँ।" फिर वह बोला—"नहीं, यहीं खाना भेज दें तो बेहतर होगा।"

फूफी उसके व्यवहार से दयार्द्र हो गई। उसकी आँखों में आँसू उमड़ने लगे। उस कमरे में मानो विश्वनाथ की दुःखभरी साँसों के कारण स्वच्छ वायु ही न थी। विश्वनाथ ने क्षण भर अपनी फूफी की ओर देखा, फिर स्वयं रुआँसा-सा होकर नीची निगाह किए कुर्सी पर बैठ गया। कुर्सी पर भी वह पाँव समेटे बैठा था। घुटने उसकी ठुड्डी को स्पर्श कर रहे थे और वह अपने पाँवों के अँगूठों को अकारण ही एक दूसरे से लड़ा रहा था। उन्हीं पर उसकी दृष्टि थी।

उसकी फूफी ने कहा—"विश्वनाथ भैय्या, तुम्हें विमला के पास जाना चाहिए। वह इतनी निकट है, इसी शहर में।"

"नहीं, बुआजी।" विश्वनाथ तत्काल बोल उठा—"यह मुझसे न होगा। मेरा तो सर्वनाश हो गया।"

"तुम्हें जाना ही चाहिए।' फूफी ने कहा—"मुझे सब ज्ञात है।"

"बुआजी, मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ।' 'विश्वनाथ बीच ही में बोल उठा—"तुम उसकी बात न कहो। यह सब मेरे लिए असह्य है।"

"पर वह तो निर्दोष है, बेबस।" बुआ बोली।

विश्वनाथ कुर्सी से उठ गया और थर थर काँपते हुए बोला—"बुआजी, मैं क्षमा चाहता हूँ। मेरे ऊपर दया कीजिए, उसकी बात न कीजिए। मैं उस कलंकिनी के विषय में कुछ भी नहीं सुन सकता।"

उसकी बुआ रुआँसी होकर लौट आई। विश्वनाथ कमरे में अकेला रह गया। तब एक अनोखी भावना ने उसे आ

घेरा। यह उसके संसार में नितान्त अकेलेपन की भावना थी, जो अपने ऊपर स्वयं करुणा का भाव प्रदर्शित करके उसे रुला रही थी। वह सोचने लगा—'एक निधि मेरे पास थी—एक अमूल्य निधि। एक दिन अचानक ही मैंने उसे खो दिया। अब मैंने उसे पा लिया है, पर उसका उपभोग सम्भव नहीं। वह निधि कहाँ? वह तो अब केवल धोखा ही धोखा है। क्यों, ऐसा ही तो है। विमला को पाकर भी अपनाने की क्षमता मुझमें नहीं है। पाई हुई वस्तु को भी ग्रहण करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। नहीं, यह सामर्थ्य ही है, अभिमान ही तो इसे कहना चाहिए,जो मैं उस निधि को पाकर ठुकरा रहा हूँ। प्रतिघात की यह भावना मेरी अपनी ही सामर्थ्य की द्योतक है। मरे हुए पर मैं घात करूँगा? पराजित से प्रतिशोध लूँगा?' फिर माथे का भार हथेली पर लेकर वह उकड़ूँ बैठ गया और बड़बड़ाया—- 'नहीं जी, अब सब समाप्त हो गया। यह विमला वह पुरानी निधि नहीं है।'

भोजन आ गया। अपने प्रिय चावलों को आज वह सरासर बिना देखे भूसे की भाँति दाँतों तले मसलकर खाने लगा। 'विमला के विषय में बिलकुल ही न सोचूँगा'ऐसा निश्चय करके वह एक ग्रास उठाता; पर उसे गले तले उतारते ही उसका संकल्प भी पेट में ही समा जाता। पुरानी स्मृतियाँ उसकी साँस रोक देतीं। पानी का घूँट पीकर वह जल्दी-जल्दी सब रोटियों को खाकर उठ खड़ा हुआ।

नौकर ने उसके हाथ धुला दिए। कमरा फिर सुनसान हो गया। यह एकान्त उसके लिए असह्य था। उसने आलमारी खोलकर कोई मनोरंजक पुस्तक पढ़नी चाही। कई पुस्तकें उलटी-पलटीं, पर किसी भी पुस्तक को पढ़ने का जी न हुआ। फिर

वह कमरे में टहलने लगा। मानो उसके पेट में एक गाँठ-सी पड़ गई थी, जो उसे चैन से बैठने भी नहीं देती थी। विह्वल-सा वह कमरे का चक्कर लगा रहा था। फिर पुस्तकों को देखकर उसने सोचा—'अभी दो नहीं बजे हैं। लाइब्रेरी खुली होगी। कल की लाई हुई वे दो पुस्तकें लौटा आऊँ।'

कपड़े पहनकर बगल में पुस्तकें दबाए, जब वह कमरे से बाहर निकला, तो उसकी फूफी उसे मार्ग में खड़ी उसी की ओर ताकती दीख पड़ी। उन्हें देखकर विश्वनाथ बोला—"मैं पब्लिक लाइब्रेरी जाकर इन पुस्तकों को लौटा आता हूँ।"

फूफी ने अचानक उसके घर से बाहर चले जाने के प्रस्ताव से आशंकित होकर उसे घर ही पर रोकने की इच्छा से कहा—"मैं आज मैटिनी शो देखना चाहती थी। 'गृहस्थी' चित्र अच्छा बतलाते हैं!" यह योजना उसने तत्काल सोची थी।

विश्वनाथ ने उस ओर ध्यान नहीं दिया, केवल सिर हिला दिया।

फूफी ने कहा—"क्या तुम ढाई बजे तक लौट आओगे? नहीं तो बैठो, मैं नौकर के हाथ पुस्तकें भेज दूँगी।"

पर विश्वनाथ का निश्चय दृढ़ था, बोला—"मुझे नई पुस्तकें भी लानी हैं। मैं ही जाऊँगा।" फूफी ने उसे जाते देखा और सोचने लगी कि न जाने वह क्या कर बैठे! नौकर को भी उसके साथ भेजना सम्भव नहीं था। वह चौका-बर्तन करने में जुटा था। फिर उसे डाक्टर के लिए अस्पताल में भोजन ले जाना था।

विश्वनाथ सड़क पर आकर सोचने लगा—'फूफाजी और फूफी भी एक से विचार रखते हैं। वह भी कहने लगीं कि मुझे विमला के पास जाना चाहिए। वह हमारे निकट है विमला

और मेरे निकट ? अब वह मेरे निकट नहीं, दूर है, बहुत दूर। क्या स्त्री होकर भी वह सोच सकती है कि विमला की यह दशा अब भी उसे ग्राह्य बना सकती है ? नहीं, यह सब कहने की बातें है। मैं उसके पास नहीं जा सकता। कदापि नहीं।'

वह आगे बढ़ गया। उस समय एक खाली तांगा उसकी ओर आ रहा था। विश्वनाथ ने अकारण ही तांगे की ओर देखा, फिर वह आगे बढ़ गया। पर तांगेवाले ने समीप आकर तांगा ठीक उसी के सामने रोक कर कहा—'कहाँ चलिएगा साहब ?"

"शरणार्थी महिला आश्रम।" विश्वनाथ ने तत्काल कह दिया और गद्दी पर बैठते हुए वह फिर बोला—"महिलाश्रम में कभी गए हो तुम ? पहाड़गंज की ओर ?"

"क्यों नहीं हुजूर ?' ताँगेवाले ने तत्परता से उत्तर दिया—"कई बार गया हूँ मैं।"

आश्रम में पहुँचकर विश्वनाथ ने तांगेवाले को किराया दिया और फाटक के अन्दर चला गया। दोनों पुस्तकें अब भी उसकी बगल में थीं। भयमिश्रित हर्षाभास की क्षणिक आभा उसे ऐसे ही कम्पायमान करने लगी, जैसे शीतार्त की घनघोर वर्षा के उपरान्त डूबते सूर्य का क्षणिक आलोक एक ओर तो भीगे कृषक को प्रसन्न कर देता है, दूसरी ओर घर की दूरी और अँधेरी रात्रि के आगमन की आशंका उसे जल्दी-जल्दी पाँव बढ़ाने के लिए विवश कर देती है। हाथ-पाँवों के प्रकम्पन के साथ ही उसके दाँत भी किटकिटाते हैं। विश्वनाथ की गति-विधि उस समय वैसी ही अस्वाभाविक और आतुरतापूर्ण हो गई। वह सोचने लगा—निश्चय ही विमला यहीं है। यह अभूतपूर्व संवेदना उसी की निकटता की परिचायक है।

आश्रम की अध्यक्षा उसे देखते ही पहचान गई। उसने कहा—"आपके माता-पिता के विषय में अभी कोई सूचना नहीं मिली।" उसने सोचा कि सदा की भाँति आज भी विश्वनाथ अपने घरवालों का समाचार पूछने आया होगा। महीनों से उसका यही क्रम चल रहा था।

"क्या कोई युवती आई है, विमला नाम की?" विश्वनाथ ने पूछा और विमला नाम के उच्चारण करते ही उसकी रीढ़ तले एक शीतल कँपकँपी-सी दौड़ गई।

"विमला?" महिला ने अपने सिर को खुजलाते हुए उन सभी विमला नाम की स्त्रियों को याद करके, जिन्हें उस शिविर में लाया गया था, कहा—"नहीं भाई, ऐसी, उस ओर की कोई विमला नहीं है। आयगी तो शीघ्र डाक्टर साहब के पते पर खबर भेज दूँगी।"

विश्वनाथ क्षण भर खड़ा रहा। फिर मन मारे फाटक की ओर लौट आया। फिर एक बार मुड़कर अध्यक्षा के समीप आया। हिचकिचाकर उसने कहा—"लेकिन आज सुबह अख़-बार में नाम था, विमला, प्रोफेसर की लड़की..."

"अरे हाँ, विमला वही न, छोटा सा बच्चा भी साथ में है उसके?" महिला बोली—"वह तो सामने तम्बू में है। मैं तो उसे बिलकुल भूल गई। भूलती क्यों न? उसका नाम तो कल तक रजिस्टर में दर्ज था बुलबुल। एक और भी तो युवती थी उसके साथ। लेकिन वह दूसरी बेचारी अस्पताल में मर गई। कौन है यह आपकी?"

विश्वनाथ उस प्रगल्भा नारी की बात को पूरा न सुन सका और जल्दी दौड़ता हुआ उस तम्बू की ओर बढ़ा।

"विमला !" उसने पुकारा। उसकी दृष्टि एक स्त्री मूर्त्ति की ओर थी, जो उसकी ओर पीठ किए बैठी थी। जब उसने अपना नाम सुना, तो मुड़कर पुकारनेवाले की ओर देखा, फिर एकदम प्रस्तर-मूर्त्ति सी उसी की ओर देखती रही। विश्वनाथ ने देखा, वह बिलकुल क्षीणकाय होगई है। उसके हाथ पतले और रक्त-हीन हैं। चेहरे पर पीत छाया सी पड़ी है। दुर्बलता के कारण वह पहचानी नहीं जाती। केवल वे बड़ी आँखें ही विमला की हैं। और वह चितवन ? उसे तो विश्वनाथ भूल ही गया था। विश्वनाथ ने आगे बढ़ना चाहा। पर उसके पाँव इतने भारी होगए कि वह एक पग भी आगे न बढ़ सका।

विमला भी पक्षाघात के रोगी की भाँति अचल, विवश और शक्तिहीन सी स्थिर रही। साँस लेने का बल भी उसमें न रहा। उस स्पन्दनहीन नारी मूर्त्ति को देखकर विमला के प्रति असीम दुख और दया की भावना से विश्वनाथ मर्मान्तक रूप से विचलित हो गया। यह एक ऐसी ही भावना का उद्रेक था, मानो विमला को उसने किसी सांघातिक चोट लगने के उपरान्त तत्काल ही देखा हो, मानो उस दुर्घटना में वह बाल बाल बची हो और अपनी ही चोट के कारण अपने ही तप्त रक्त कुंड में असहाय सी, स्पन्दनहीन खड़ी छटपटा भी न सकती हो। विश्वनाथ ने सोचा—यह दुर्घटना मेरे ही दुर्भाग्य से तो घटी। पर यह भी मेरा, मुझ अभागे का सौभाग्य था कि मैं इसे जीवित पा सका।

तब कपड़े की एक गठरी के पीछे एक बच्चे का चिल्लाना सुनाई दिया। विमला की मुद्रा विवर्ण होगई और उसके विस्फा-रित नेत्र पति की मुद्रा पर निबद्ध होगए। बच्चा रोता रहा, रोता रहा। विमला की आँखों से आँसू गिरने लगे।

'मैं तो बच्चों को बड़ी जल्दी शान्त करा देता हूँ।' विश्वनाथ ने सोचा और गठरी से आगे बढ़कर कहा—"अच्छा विमला, मैं बच्चे को पकड़कर उसे चुप कराता हूँ। तुम जल्दी तैयार हो जाओ। अब हमें यहाँ से चल देना चाहिए।"

पुराना परिचय

खूँटे पर बँधे शिकारी कुत्ते की भाँति गाड़ी बराबर काँपती और शोर करती रही, पर छूटी नहीं।

रमेश, विस्मय, कौतूहल और हर्षमिश्रित लज्जा से उस युवती का, अपने साहब को पत्नी का, सहानुभूतिपात्र बनकर कभी तो अपने को बड़ा भाग्यशाली समझ रहा था और कभी अपने, एक निष्ठुर पुलिस कर्मचारी के स्वभाव से इस नारी की अबोध सहृदयता की तुलना करके मन ही मन खिन्न हो रहा था। एक भाव उसके हृदय पर सबसे प्रबल था। वह मन ही मन प्रार्थना कर रहा था, 'अब गाड़ी को तुरंत ही चल देना चाहिए। न जाने इस विचित्र परिस्थिति का अन्त कैसे होगा? साहब ने अपनी पत्नी को मुझ जैसे एक साधारण मातहत कर्मचारी को ट्रेन पर बिठाने का कष्ट क्यों दिया? क्यों अपने सपत्नीक सान्ध्य भ्रमण के कार्यक्रम को अचानक ही बदल दिया?'

अपने सुपरिंटेंडेंट मिस्टर राय की अपनी पत्नी के प्रति यह उदार भावना रमेश की समझ में बिलकुल नहीं आ रही थी। जो अफसर पुलिस-विभाग में सबसे दक्ष और चालाक समझा जाता है, जो अपने अधीन कर्मचारियों से सीधे मुँह बात भी नहीं करता, उसी अफसर की यह अनोखी करतूत न जाने किस महा विपत्ति की भूमिका है?' यही सोचता हुआ रमेश

अधीरता से गाड़ी के छूटने की प्रतीक्षा कर रहा था। मिसेज राय प्लेटफार्म पर खड़ी उत्सुक नेत्रों से उसकी ओर देख लेती थी। उसकी तरल करुण दृष्टि में रमेश को यही भाव स्पष्ट प्रकट होता था कि उसे तनिक भी जल्दी नहीं है। वह नहीं चाहती कि रमेश की गाड़ी जल्दी छूट जाय। जब एक और लम्बी सीटी देकर आखिरकार गाड़ी चल पड़ी तो मिसेज राय के मुँह से एक उच्छ्वास निकल पड़ा।

रमेश की समझ में नहीं आया कि के वह उच्छ्वास गाड़ी के गतिमान होने से उदीर्ण हुआ, अथवा अभी अभी की हुई बातचीत के दुःखद प्रसंग से। जल्दी में उसने हाथ जोड़ दिए और क्षीण स्वर में कहा—"साहब से मेरा नमस्ते कह दीजिएगा।"

श्रीमती राय ने प्रत्युत्तर में कुछ न कहा; न प्रत्याभिवादन हेतु हाथ ही उठाए। वह आत्म-विस्मृता सी रमेश की ओर देखती रही। उनका एक भाग उस समय जागृत और वाह्य संसार की गति विधि के प्रति सजग था, दूसरा भाग मानो मृतप्राय हो गया था और ट्रेन की गति या रमेश की अभिवन्दना कुछ भी न समझ पा रहा था। वह चलती गाड़ी के साथ साथ अपने सचेतन भाग के सहारे मानो मृत भाग को भी घसीटती चली गई। फिर गाड़ी के साथ साथ उसकी तीव्र गति से मेल न रख सकने के कारण केवल अपनी दयार्द्र दृष्टि से ही रमेश का साथ देती हुई कई क्षण तक प्लेटफार्म पर खड़ी उसी ओर देखती रही। मानो शिशु तुल्य रमेश की रक्षा का प्रबन्ध उनसे सुचारु रूप से नहीं हो सका हो, और मानो उसकी यात्रा के प्रबन्ध में गाड़ी के अचानक ही चल देने से कहीं

कोई अधूरापन रह गया हो जिसकी पूर्ति की व्यग्रता में वह आत्मविस्मृता हो गई हों।

श्रीमती राय का पूरा नाम हेमनलिनी है। पति उन्हें हेमाजी कहकर पुकारते हैं। वे उसे कभी 'तुम' 'तू' कहकर नहीं पुकारते। सदा आदरसूचक बहुवचन में 'आप' कहकर संबोधित करते हैं। हेमनलिनी और उनका सम्बन्ध बहुत पुराना नहीं है। पहली पत्नी की मृत्यु के उपरान्त पाँच वर्ष अविवाहित रहकर इसी जिले की महिला अस्पताल की लेडी-डाक्टर हेमनलिनी से उन्होंने स्वेच्छा से ही विवाह किया। वे तब जिले के सहायक पुलिस सुपरिंटेंडेंट थे।

हेमनलिनी और सन्तोषकुमार राय। यही उनका पूरा नाम है। पहली बार जिले के कलक्टर महोदय के घर पर एक चाय पार्टी में मिले थे। कलक्टर साहब की पत्नी और हेमनलिनी जीव-विज्ञान कक्षा में कभी साथ-साथ पढ़ती थीं। उसी ने उन दोनों का उस पार्टी में परिचय कराया था। उपहास में कहा था—'यह है मेरी सहेली हेमनलिनी, लेडी-डाक्टर, क्रानिक स्पिन्स्टर (असाध्य-अविवाहिता), और ये हैं श्री राय, कप्तान पुलिस, फेदफुल विडोअर (पत्नी-वृती विधुर)।' इस परिचय कोसुन कर उपस्थित मित्र मंडली कहकहा मारकर हँस पड़ी थी। उसी पार्टी में राय महाशय ने हेमनलिनी से 'स्टेशन क्लब' (यह बड़े अफसरों का क्लब था) की सदस्या बन जाने का आग्रह किया था। और कुछ सच और कुछ हेमनलिनी की प्रशंसा करने के हेतु कहा था, "पुलिस लाइन के क्वार्टरों में रहनेवाली देहाती स्त्रियों से लेकर कलक्टर साहब की कोठी में रहनेवाली सम्भ्रान्त महिलाओं तक, सभी से आपकी सहृदयता, शल्य-पटुता तथा स्नेहपूर्ण व्यवहार की खबरें सुनने में आती

हैं। आप जैसी सर्व दुखहारी महिला शायद ही कोई और इस जिले में हो। मैं हूँ, बिना कुटुम्ब का विधुर। मुझे भला आपकी कार्य कुशलता से लाभ उठाने का सौभाग्य कहाँ? पर हाँ, कभी कभी आप क्लब से आजाएं और मैं कटथ्रू (ब्रिज का खेल, आर पार कट जाना) से आहत हो जाऊँ तो आपकी कॉल (ब्रिज की चाल, डाक्टर का आना) से लाभ उठा सकूँगा। आपके द्वारा पोस्ट मार्टम (खेल की आलोचना—शवपरीक्षा) भी ढंग का होगा।

हेमनलिनी अगले मास से क्लब की सदस्या हो गई। बैडमिंटन में उन्हें क्लब की पुरानी सदस्या और अंग्रेजी होटल की मालकिन मिसेज टॉमस भी न हरा सकती थीं। क्लब में ही उनका और विधुर मिस्टर राय का परिचय प्रगाढ़ होने लगा था। ऐसा संयोग होता कि राय और वे, बहुधा नित्य ही खेल में साथी बन जाते। जब कभी क्लब में बैंड बजता तो हेमनलिनी को ज्ञात होता कि जो गीत या लय उसे पसन्द है, वही राय भी पसन्द करते हैं। जब कभी सिनेमा जाने का कार्यक्रम बनता और कलाकारों का जिक्र छिड़ता तो क्या हिन्दी, क्या अंग्रेजी, सभी चित्रों में उन दोनों के प्रिय कलाकार एक ही होते थे। लिली पामर, ग्रे कूपर, सेसिल पार्कर, म्युरियल, व्याने डि-काले या डगलैस फेयर बैंक्स, अथवा अञ्जना, शैलबाला, नीरजा, समुद्र-विजेता आदि सभी पाश्चात्य और पौर्वात्य प्रिय कलाकार दोनों के एक ही थे।

वर्षा, शीत और ग्रीष्म ऋतुओं के आगमन के साथ साथ उनके उस परिचय में तरलता, शीतल गम्भीरता और फिर परिवर्द्धित तप्तता आती गई। विधुर राय क्लब के स्त्री-सदस्यों के प्रति सदा शिष्ट व्यवहार करते थे। वे तल्लीनता से ब्रिज खेल रहे हों, तो भी बूढ़ी मिसेज टॉमस या काली कलूटी मिस

लूथर, जो सरकारी अस्पाल में सहायक डाक्टर थी, के आने पर कुर्सी से अभिवादनार्थ उठ जाते थे। स्त्रियों के प्रति उनकी 'शिवेलरी' (शौर्य भावना) ताश के खेल में तल्लीन उनके अन्य साथियों को खल जाती थी; पर राय क्लब के उन स्त्रीजन-उदार्य पाश्चात्य शिष्टाचार के नियमों में तनिक भी हेरफेर न करना चाहते थे।

उनकी शिष्टता तथा उनकी मीठी बातों का हेमनलिनी पर उत्तरोत्तर आकर्षक प्रभाव पड़ता गया। एक दिन क्लब के सदस्यों ने सुना कि अब उपहास की वह बात वास्तविकता में परिणत होने जा रही है। उसी अप्रेल में राय और हेमनलिनी का विवाह हो गया। यह लम्बी प्रेम कहानी है। अब यह घटना भी कोई दो वर्ष पुरानी हो गई।

यद्यपि क्लब में राय का अपने से छोटे या बड़े सभी के प्रति व्यवहार मैत्रीपूर्ण और भाई-भाई का सा है; पर क्लब से बाहर वे छोटे-बड़े सभी से उसी के पद के अनुसार व्यवहार करते हैं। स्वयं भी वर्दी पहन दफ्तर जाते हैं, अपने अधीन कर्मचारियों से भी यही आशा करते हैं कि वे उसी भाँति सम्मान से पेश आएँ। रमेश बनर्जी को भी जो उनके अधीन एक सर्किल इन्स्पेक्टर है, अपने अन्य सहयोगियों की भाँति उनके सम्मुख वर्दी पहनकर आना अनिवार्य था। आत्मीयता की बात उनके व्यवहार में कभी आती ही नहीं, क्योंकि उनके विचार में यही आत्मीयता अनुशासन को भंग करती है।

अतः उस शाम, रमेश बनर्जी को स्टेशन तक पहुँचा आने का आदेश पाने पर हेमनलिनी कम शंकित नहीं हुई। रमेश ट्रेन-डकैती के एक लापता अपराधी की खोज में था और अब तक की अपनी छानबीन का हाल बताने के लिए राय महाशय

से मिलने आया था। उस अप्रत्याशित रेलयात्रा के आरंभ करने से आधा घंटे पहले जब वह राय महाशय से बातचीत कर रहा था, तभी उस घर में अपने नए पद पर स्थापित हेमनलिनी के दर्शन उसे हुए थे। मि० राय ने चपरासी को बुलाने के लिए घंटी बजाई थी, पर घंटी का शब्द व्यर्थ हुआ था। फिर दो तीन बार घंटी बजाने पर भी जब चपरासी नहीं आया था, तब रमेश स्वयं उठकर यह कहने को तत्पर हुआ था—'क्या काम है हुजूर, मैं कर लाऊँगा।'

मि० राय ने उसे बैठने का संकेत करके पत्नी को सम्बोधित कर कहा था—"हेमाजी जरा एक गिलास पानी तो भेजिए।"

हेमनलिनी श्वेत चीनी की तश्तरी में पानी से भरा शीशे का गिलास लेकर आई थीं।

रमेश आभिवादनार्थ कुर्सी से उठ खड़ा हुआ था। यद्यपि शिष्टाचार के नाते उसका उठना आवश्यक था, पर उस समय, न जाने क्यों रमेश का उस प्रकार उठना राय महाशय को बिलकुल अच्छा न लगा। पत्नी एक ओर खड़ी थी और दूसरी ओर रमेश खड़ा था, बीच में खुली हुई फाइलों के पीछे कुर्सी पर बैठ, राय ने उस समय अपने को विचित्र परिस्थिति में पाकर पानी पी चुकने के बाद कहा—'बैठिए हेमाजी, इन्हें जानती हैं आप ? ये हमारे नरसिंहपुर के हलका इन्स्पेक्टर हैं, रमेश बनर्जी।'

तब रमेश ने हेमनलिनी की ओर स्पष्ट रूप से देखा। देखकर मन ही मन सोचा—'इन्हें तो देखा है मैंने। अच्छा ये हैं श्रीमती राय ! कहाँ देखा होगा मैंने इन्हें ?'

बैठकर हेमनलिनी ने शान्त भाव से कहा—"शायद मैं इन्हें पहले से जानती हूँ।"

कलम को मेज पर रखते हुए राय महाशय ने उन दोनों की ओर एक एक करके देखकर मुस्कराने का सा उपक्रम करते हुए कहा—"अच्छा तो आप एक दूसरे से परिचित हैं।" मन ही मन उन्हें दुःख हुआ कि इस मेरी पत्नी में किंचित् भी आत्माभिमान नहीं; जरा सी भी बुद्धि नहीं। मेरे एक अधीन कर्मचारी ने इसका अभिवादन किया। यह उससे अपना पूर्वपरिचय जिसकी अब इस परिवर्तित परिस्थिति में किंचित् भी आवश्यकता नहीं, पुनः स्थापित करने को आतुर हो गई है। सभी छोटे बड़ों के प्रति आत्मीयता प्रकट करने का इसका वह स्वभाव आसानी से न छूटेगा। डाक्टरी पेशे में यह दुर्गुण है कि वह शरीर का विस्तृत ज्ञान शरीरस्थ मानव की अवहेलना न करना सिखला देता है। वह पेशा तो इसने छोड़ दिया, पर स्वभाव से इसे छुटकारा नहीं मिला।

फिर कलम से खेलते हुए अन्यमनस्यक से होकर वे बोले—"कब से जानते हैं आप एक दूसरे को?" यह कहते हुए उनकी दृष्टि पास ही मेज पर पड़े एक कागज पर पड़ी। पत्नी उनके उस स्वर परिवर्त्तन से काँप उठी। उसे यह समझते देर न लगी की रमेश को पहचानने की बात कहकर उसने एक गलती कर दी। पति के उस स्वर की शीतल गम्भीरता और उस नीची दृष्टि से वह परिचित थी, जिसे वे पत्नी के द्वारा होनेवाले किसी अपराध के कारण रुष्ट होकर ही धारण करते थे। पर रमेश को तो वह सब कुछ साधारण सा लग रहा था। उस दम्पति के मध्यवर्ती वातावरण से वह अनभिज्ञ था। अब उसे स्मरण हो आया कि वह हेमनलिनी से कहाँ मिला था; बोला—'उस

वर्ष दिल्ली के समीप जो ट्रेन-दुर्घटना हुई थी, उसी में आपका और मेरा साथ हुआ था।'

हेमनलिनी ने पति की ओर देखकर कहा—'तब मैं दिल्ली के उस मेडिकल कालेज में हाउस-सर्जन थी।'

उत्तर में, परिचय की स्वीकृति पर प्रसन्न और उत्साहित होकर रमेश बोला—'मैं तब गाजियाबाद में थानेदार था।'

मन ही मन उन दोनों की मूर्खता को धिक्कारते हुए तथा मेज पर रखे एक कागज के पढ़ने में अपने को तल्लीन दिखलाते हुए राय महाशय ने कहा—"यह लो, इस पते को नोट कर लो। तुम्हें आज ही शाम की गाड़ी से पहाड़ की ओर जाना होगा। बनबसा के पास नैपाल की सरहद पर जो थाना है, उसके स्टेशन अफसर से मिलकर जाना। यदि आवश्यकता हुई तो वहीं से सहायता मिल जायगी। उस थाने के पास ही पहाड़ की ओर जानेवाली मोटरों का पड़ाव है। वहाँ उसे देख लेना। यदि न मिले तो मोटर पर सवार होकर जहाँ तक मोटर जाए, चले जाना। फिर दस-बारह मील पैदल चल देना। जहाँ पर अब मोटर सड़क बन रही है, वहीं सड़क बनानेवाले कुलियों में आजकल वह प्रचार कार्य कर रहा है, ऐसा मेरा अनुमान है।"

रमेश सुनता रहा। राय महोदय फिर बोले—'जायँगे आप ?" यह बहुवचन का प्रयोग एक चुनौती सी थी।

रमेश ने कहा—"जाऊँगा, अवश्य जाऊँगा।"

पति की इस अप्रत्याशित आज्ञा से हेमनलिनी भयभीत सी होकर उठकर अन्दर जाने लगी, तभी पति बोले—"हेमाजी,

आपको कष्ट तो होगा, पर यह काम जरूरी है। अब उस गाड़ी के छूटने में पन्द्रह मिनट बाकी हैं। रमेश को कार में ले जाकर स्टेशन पर छोड़ आइए न।" कहते हुए हर्षमिश्रित प्रश्नात्मक दृष्टि से पत्नी की ओर देखने लगे। हेमा खड़ी थी, खड़ी रही। उसकी मुद्रा लटक सी गई। क्षण भर चुप रहकर वह फिर बोली—"पहुँचा आऊँगी, आप भी चलिए।"

"धन्यवाद" राय ने प्रसन्नता से कहा—"मुझे तो क्षमा कीजिए, मैं न जा सकूँगा।" फिर किंचित् रुककर एक कागज को उलट-पलटकर कहा—"इसे पूरा करने में अभी घंटा भर लगेगा। मोटर लेकर आप ही इन्हें छोड़ आइए।"

"अच्छा, जाती हूँ।" पत्नी ने कहा। क्रोध और अपनी विवशता की भावना से फिर उसका सारा शरीर तप्त हो गया। वह सोचने लगी कि शायद रमेश को पहाड़ पर भेजना बिलकुल आवश्यक न था। शायद मेरे प्रति अपना पुराना परिचय प्रदर्शित करना ही इतना बड़ा अपराध उससे हो गया कि अब बिना अपने बाल-बच्चों और पत्नी से मिले ही उसे निर्जन पर्वत प्रदेश की यात्रा करनी पड़ेगी। उनका दंड देने का ढंग कितना शांत और कैसा मीठा है। उस बेचारे को इसका किंचित् भी आभास नहीं मिला। एक कर्त्तव्यपरायण सैनिक की भाँति वह तुरंत ही जाने को उद्यत हो गया।

(२)

स्टेशन से लौटकर हेमनलिनी सीधे अपने कमरे में चली गई। सोचने लगी, गलती अवश्य मुझसे हुई, पर उसका फल भोगना पड़ा उस बेचारे सर्किल इन्स्पेक्टर को। मैं उससे कह भी नहीं सकी कि भाई लौट जाओ। पहाड़ की ओर

जाने से इनकार कर दो। यदि वह ऐसा ही करता तो उस मुसीबत से बच जाता। इनका क्रोध शांत हो ही जाता। क्या अब भी वह बीमारी का बहाना करके लौट नहीं सकता? शायद उसे आज शाम ही बुखार आ जाय। हाँ, यदि पाँव में कहीं चोट आ जाय तब तो पहाड़ की पैदल यात्रा के लिए वह बिलकुल ही असमर्थ होकर निश्चय ही लौट आयगा। बदलने को कपड़े और सोने के लिए बिस्तर तक तो वह नहीं ले जा सका।

अब इन्हें भी अपनी इस आज्ञा के कारण कम दुख न होगा। बहुत दिनों से मैं देख रही थी कि ये मेरे प्रति बहुत ही स्नेहशील और उदार हो गए हैं। अब उसी की प्रतिक्रिया का, कोपभाजन मुझे बनना है। आज इस आधे घंटे की मेरी अनुपस्थिति में मेरे पति ने हिसाब लगाकर देखा होगा कि उन्होंने मुझे अपने स्नेहकोष से बहुत अधिक दान कर दिया और अब संयम और कंजूसी का दौर चलेगा। स्नेह का यह अपव्यय उन्हें खल रहा होगा। सचमुच उनकी इस उदारता के ही कारण मैं आज अपनी उसी प्रवृत्ति के कारण रमेश को पहचानने की बात कह गई। मुझे ध्यान ही नहीं रहा कि इन्हें इस प्रकार का व्यवहार बिलकुल पसन्द नहीं है।

बटुए को दराज में रखकर उस पर लगे बड़े आइने में अपना प्रतिबिम्ब देखने की प्रतिदिन की स्वाभाविक प्रक्रिया के कारण आज भी हेमा उस दराज के सम्मुख क्षण भर खड़ी रही, यद्यपि उसे अपना प्रतिबिम्ब आज किंचित् भी नहीं दिखलाई दिया। उसकी आँखों के सम्मुख तो अपने ओवरकोट और छोटे से हैंडबैग के सहारे वह रमेश, सरल प्रकृति का आज्ञाकारी पुलिस इंस्पेक्टर ही, उस आइने के उस पार तराई के बने

जंगलों के बीच धड़धड़ाती रेलगाड़ी के किसी डिब्बे में कोने पर दुबका बैठा दीख रहा था। राय का अन्दर आना भी वह न जान सकी।

मि० राय ने उसे इस प्रकार खड़ी देखकर किंचित् उपहास की भावना से कहा—"कहिए, पहुँचा आईं अपने पुराने मित्र को?"

इससे पहले कि पत्नी कुछ कह सके, वे फिर बोले—"हाँ, अपनी वेशभूषा को अब आइने में देखकर अफसोस करना व्यर्थ है। एक पूर्व परिचित युवक को पहुँचाने जाने से पहले ही अपने शृंगार पर यथेष्ट ध्यान देना चाहिए था। अब भला क्या हो सकता है?"

हेमनलिनी की इच्छा हुई कि मेज पर पड़े फूलदान को उठाकर जोर से पटक दे अथवा स्वयं, अपने उस दुमंजिले कमरे की खुली खिड़की से तत्काल कूदकर आत्मघात करले, पर उससे ऐसा कुछ भी न हो सका। वह अन्दर ही अन्दर क्रोधाग्नि से दहकती जड़ीभूत-सी उसी आइने के सम्मुख खड़ी रही। शल्यक्रिया में निपुण वह मानव-शरीर को बेदर्दी से स्वयं काट-छाँट सकती है, पर कटूक्तियों की मर्मभेदी इस चोट से वह नितान्त अपरिचित है। इसके सम्मुख वह अपने को नितान्त असहाय पाती है। पर रमेश की उस दुर्दशा का ध्यान करके उसे अपनी यह मानसिक वेदना उस समय असहाय नहीं जान पड़ी। सोचा—'गलती की है तो उसका फल भोगना ही पड़ेगा।'

"जब आप क्रोधित हो जाती हैं तो आपकी सुन्दरता में स्वाभाविकता आ जाती है।" पति ने कहा—"उस सुन्दरता में

तब सौन्दर्य ज्योति और साथ साथ नारी के दर्प का ताप भी रहता है। ज्योति और ताप आधुनिक सभ्यता में साथ-साथ नहीं चल सकते। बिजली के बल्ब में केवल ज्योति है। उसके अन्दर रिक्तस्थान को वायुशून्य कर दिया जाता है, तभी तो वह जल नहीं उठता और न उसकी प्रचंड अग्नि ही विद्यमान रहती है। पुरानी लालटेनों में ताप और प्रकाश दोनों हैं, इसलिए वे प्रीमिटिव हैं सही, पर लगती स्वाभाविक हैं। क्रोधित नारी में भी वह प्रीमिटिव (आदिकालीन) स्वाभाविक सौन्दर्य दीख पड़ता है।"

धम से कोच पर गिरकर दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँपकर हेमनलिनी ने मन ही मन कहा—'अब मैं आदिकालीन और असभ्य भी बन गई हूँ। उस समय जिस मार्ग से मैं निकल जाती थी, ये उसी की पूजा करते थे और अब मैं उनकी पगधूलि से भी तुच्छ हो गई हूँ।' वह सिसकने लगी।

कोच पर पत्नी के समीप बैठकर राय ने कहा—"कौन कहता है, आप असभ्य और आदि-कालीन हैं। मैंने तो यह नहीं कहा। पर आदमी का स्वभाव तो उसी आदिमानव की देन है, कभी न कभी वह उसे धोखा दे देता है।"

"आप मुझे क्यों दिन रात इस प्रकार परेशान करते हैं?" पत्नी ने अपना हाथ छुड़ाकर वहाँ से उठते हुए कहा—"आप में न दया है, न लज्जा।"

"अफसोस, निश्चय ही ये दोनों गुण मुझमें नहीं हैं।" राय ने बरबस पत्नी को बिठाते हुए शान्त भाव से कहा—"पुलिस विभाग में इस लम्बी अवधि तक नौकरी करने के कारण मुझे

इन दोनों सुकृत्यों से छुटकारा मिल गया है। यह तो आपने ठीक ही कहा और इस सन्ध्याकाल आपको स्टेशन भेजने में मेरा दयाहीन होना सिद्ध ही नहीं हो गया; किन्तु लज्जाहीन भी। इसमें भी मेरे अन्तर में स्थित उसी आदपुरुष का हाथ है।"

पत्नी ने सोचा, तब इन्हें भी अपनी गलती का ध्यान है। वह बोली—"तब क्या उस इंस्पेक्टर का पहाड़ की ओर जाना आवश्यक न था?"

पति ने शान्ति से उत्तर दिया—"अपराध के लिए दंड की व्यवस्था करने की मेरी प्रवृत्ति है; पर उस दंड को देने की आज्ञा न्यायालय देते हैं और दंड-भोग कराता है जेल-विभाग। क्रोध में मैंने आपसे उसे स्टेशन तक पहुँचा आने को कहा। किन्तु आपका उसे स्टेशन पहुँचाना तो स्वेच्छा पर ही निर्भर होना चाहिए था। मैं तो यही जानना चाहता था कि आप कितनी भोली हैं। इतना भी तो आत्मविवेक या आत्मबल आपमें नहीं कि वहाँ जाने से मना कर सकतीं।"

पत्नी ने कहा—"तब क्या आपका मुझे उसके साथ भेजने का उद्देश्य मेरे स्वाभिमान की परीक्षा करना ही था? मुझसे गलती होगई..." पत्नी अपनी बात पूरी न कर सकी। वह सहर्ष यह स्वीकार करने को तत्पर होगई थी कि जैसे अपराधी को तत्काल दंड देने की आतुरता पति में स्वाभाविक है, उसी प्रकार डाक्टर होने के कारण दूसरे को दुखपूर्ण परिस्थिति में देखकर उसकी सहायता करने को तत्काल उद्यत हो जाना भी उसके लिए स्वाभाविक हो गया है और उसे आशा थी कि यहीं पर इस गृहकलह की शान्ति हो जायगी। पर बीच में ही राय बोल उठे—"मेरा उद्देश्य क्या हो सकता था, मैं आपको इतना उच्छ-

भूल तो नहीं समझना कि पन्द्रह मिनट के इस समय में ही आप अपने उस पुराने परिचित थानेदार के प्रेम को प्राप्त करने का अवसर निकाल सकेंगी और मुझे धोखा देंगी। नहीं नहीं, ऐसा मैं नहीं सोच सकता।"

हेमनलिनी ने यह सुनकर दोनों उँगलियाँ अपने कानों में डाल लीं, रोकर कहा—"आज आपको हो क्या गया है ?" उसका विषादपूर्ण मन स्वयं उसे तिरस्कार की ग्लानि से सौ सौ धिक्कार दे रहा था, उस पर भी पति के व्यंग; यह सब असह्य हो गया था।

उसका रोना देखकर राय और भी समीप आकर परिहास की भावना से कहने लगे—"आप तो थोड़ा सा भी मजाक बर्दाश्त नहीं कर सकतीं।" यह कहकर उन्होंने पत्नी के गले में हाथ डालना चाहा, और फिर कहा—"डाक्टरनी का रोना अच्छा नहीं लगता, रोगी चाहे रोलें।"

पत्नी ने झिटककर उनके हाथ को दूर हटा दिया और पास ही पड़ी चादर को खींचकर वह फिर जोर से सिसकने लगी। राय इससे भी हतप्रभ न हुए। उन्हें एक नई चाल सूझी। जोर से नौकर को पुकारा—"अरे मोहन, मोहन।"

"आया हुजूर!" कहता हुआ नौकर दौड़ा आया।

अपना रुआँसा मुँह छिपाने के लिए पत्नी खड़ी होकर खिड़की तक चली गई और व्यर्थ ही बाहर की ओर झाँकने लगी।

नौकर से मि० राय ने कहा—"वे जो चिट्ठियाँ आज की डाक से आई थीं, उनमें कुछ तो हेमाजी की थीं न ?"

नौकर बोला—"हाँ साहब, एक चिट्ठी थी, दो अखबार थे और एक डाक भी थी।" पहाड़ी नौकर 'डाक' उस चिट्ठी को कहता था, जो बादामी रंग का सरकारी लिफाफा होता है। हेमनलिनी डाक्टरों की एक सहकारी संस्था की अध्यक्षा थीं। अब उस पद के त्याग देने पर भी कभी-कभी उसके नाम पत्र आ जाते थे।

मि० राय ने कहा—"उन्हें ले आ और हेमाजी को देदे। और मेरे गुसलखाने में पानी लगा दे। जरा नहाऊँगा।"

नौकर के चले जाने पर वे भी उठकर कमरे से बाहर चले गए।

(३)

रमेश जब गाड़ी से उतरकर मोटर में बैठा तो उसका हृदय उमंग से भरा था। वह सोच रहा था कि जिले के शेष तीन इन्स्पेक्टरों से वह अधिक विश्वासपात्र और कर्त्तव्यपरायण समझा जाता है। साहब उसे निश्चय ही और व्यक्तियों से अधिक चाहते हैं। पहाड़ी सड़क पर जब मोटर घों-घों करके चढ़ने लगी तो उसे श्रीमती राय की वह कातर मुद्रा स्मरण हो आई। वह सोचने लगा कि निश्चय ही वह जी-जान से जयपाल का पता लगाकर लौटेगा। उसका उत्तरदायित्व अब केवल कर्त्तव्यपालन तक ही सीमित नहीं है, किन्तु वह यदि इस नए कार्य में सफल हो जायगा तो उसकी, साहब और उनकी पत्नी दोनों की दृष्टि में, कदर बढ़ जायगी।

मोटर के अन्तिम स्टेशन पर जब वह उतरा, तो उसे अपना कार्य इतना सरल और अपनी भावी पैदल यात्रा इतनी सुगम जान पड़ी कि वह सुपरिंटेंडेंट को मन ही मन धन्यवाद देने लगा कि उनकी कृपा के कारण उसे आज पर्वत प्रदेश की इस रमणीक

यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह एक ऊँची चढ़ाई पार करके फिर दूसरी नदी की घाटी में उतरा और उसी नदी के किनारे, पथरीले पहाड़ी मार्ग से लगभग दस मील चलकर उस स्थान पर आया, जहाँ भारत और नैपाल की सीमाएँ मिलती हैं। सायँ सायँ करती हुई तीव्रगामी पहाड़ी नदी के एक ओर नदी के किनारे दो बड़े मैदान थे, जो एक दूसरे के ठीक ऊपर थे। इन मैदानों के ऊपर भी एक और छोटा सा टीला था। फिर उससे ऊपर आकाश को भेदता हुआ पथरीला पर्वत खड़ा था, जिसकी श्रेणी तक नदी के किनारे खड़े व्यक्ति की दृष्टि भी नहीं पहुँचती थी। नदी के दूसरी ओर गोल-गोल कंकड़ों के उपरान्त विशाल-काय चट्टानें थीं और नैपाल के पर्वतों की श्रेणियाँ चारों ओर एकाएक ऊँची खड़ी थीं। इन बड़ी शिलाओं के पास ही रस्से का एक पुल (झूला) था। उन कँकड़ीले समतल मैदानों के किनारे गोल-मटोल पत्थरों की बनी और पत्तों की छाई हुई सौ सवा सौ के लगभग झोपड़ियाँ थीं। एक ऐसी ही झोपड़ी में पुलिस चौकी भी थी।

ऊँचे-ऊँचे पर्वतों की ठीक गोद में बसी यह बस्ती देखने में जितनी सुन्दर और भव्य थी, वहाँ के निवासियों का चरित्र उसी अनुपात से सुन्दर नहीं कहा जा सकता था। मनुष्य के रचे, दो बड़े राज्यों की सीमाओं के अन्त में रहनेवाले वे उथले स्वभाव के मनुष्य थे। दोनों देशों के मानव-समाज ने उन्हें अपने जीवन-संघर्ष के फलस्वरूप निरन्तर प्रवाहशील व्यवस्था से उनके हलकेपन के कारण उछालकर इस किनारे पर फेंक दिया था। इनमें से अधिकांश भारत में पकड़े जाने की आशंका से क्षण भर में झूलता हुआ पुल पारकर नैपाल में चल देते थे और यदि नैपाल में 'हड़ हालिन्या' (काठ पर पाँव बाँधकर

रखना, नैपाल का हवालात) की नौबत आ जाती, तो रात ही रात वे किसी ऐसे स्थान से भारत में आ जाते, जहाँ ऐसे लोगों की सहायता के लिए ही चंचल पहाड़ी नदी ने अपना वक्षःस्थल विशाल और अपना जल उन्हीं के स्वभाव के अनुकूल उथला कर दिया था।

ये कुटिल स्वभाव के व्यक्ति, किसी किसी बात में साधारण मानव से भी अधिक बुद्धि रखते थे। यदि कल वे ठेठ गोरखाली में कहते कि 'कस्तो भंछो दाई ? (भाई क्या कहा ?)' तो आज पछाँई उर्दू में बोल लेते कि 'क्या शुगल है भाईजान ?' अथवा अनपढ़ से बनकर पहाड़ी लहजे में पूछ लेते 'दाज्यू के हैरोछ ?' रात ही रात बाल मुड़ाकर पंडों का वेश बना लेना या लम्बी लम्बी लटों को राख में सानकर सिर पर घोंसला सा बनाकर, कैलास से लौटे थके बंगाली साधु की सी रुग्ण मुद्रा धारण कर लेना, डोट्याल कुली बनकर भंग के रेशों से बने टाट पहनकर झूठमूठ ही किसी का बोझ उठा लेना, पुलिस को धोखा देने के लिए ऐसी चाल चलने में वे बड़े पटु थे।

पुलिस इन्स्पेक्टर रमेश ऐसी ही प्रवृत्ति के उस जयपाल की तलाश में यहाँ आया था। कम से कम उसे यही आशा थी कि उच्छृङ्खल स्वभाव के उन व्यक्तियों की बस्ती में वह उसे वहाँ मिल जायगा। जयपाल सन् बयालीस में बहादुर कांग्रेसी बनकर फरार हुआ था। फिर उस राजक्रान्ति का पुण्यलाभ उठाकर उसे सन्तोष न मिला, तो कभी समाजवादी और कभी साम्यवादी बनकर वह उस अंग्रेजी कहावत को अक्षरशः चरितार्थ करता था, जिसमें कहा गया है कि राजनीति दुष्ट प्रकृति के लोगों का अन्तिम आश्रय है। कहीं किसी पहाड़ी लड़की को

भगा ले जाने के अपराध के लिए उसके नाम वारण्ट थे तो कहीं किसी हथियारबन्द डकैती में भाग लेने के लिए।

अपने संक्षिप्त से सामान को पुलिस चौकी में रखकर रमेश नदी के किनारे घूमने को निकल गया। यद्यपि वह सादे कपड़े पहने था, फिर भी उसे ऐसा भास हो रहा था कि उस पहाड़ी बस्ती के सभी व्यक्तियों को अपनी शान्त सुदूर बस्ती में उस परदेशी का आना खटक रहा था। कोई भी उसके आगमन से प्रसन्न न था। बस्ती के किनारे किनारे घूमता हुआ रमेश नदी के किनारे उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ मैदान कुछ ऊँचा होकर एक पहाड़ी में परिवर्तित हो गया था। पर्वत के बीच गहरी नाली में सी बहती हुई उस नदी के किनारों पर शांत हवा खूब तप्त थी। उसमें एक अनोखी मादक गंध व्याप्त थी। रमेश को बड़ी उदासी आने लगी। वहाँ कहीं कोई भी तो ऐसा प्राणी न था, जो उससे हँसकर कह दे, भाई आओ, बहुत दिनों में मिले। उस लम्बी यात्रा के उपरान्त कहीं भी शान्ति का स्थान उसे नहीं दीख पड़ा। उस टीले पर चढ़कर उसे ज्ञात हुआ कि वह टीला उस बड़े पहाड़ की एक बतौड़ी सा है और है बड़ा रूखा और तप्त। उसके किनारे एक छोटा चबूतरा मक्खियों से भिनभिना रहा था। पास ही पीपल का अकेला पेड़ था, जिस पर सैकड़ों कौए काँव-काँव कर रहे थे। निकट पहुँचकर रमेश ने देखा कि पीपल के पेड़ के नीचे एक छोटा घरौंदा सा बना है, जिसके भीतर एक बुझा दीया, दो एक रक्त से सनी हुई मूर्तियाँ और कुछ सूखे फूल बिखरे हैं। उसने अनुमान लगा लिया कि यही काली का स्थान है, जहाँ नैपाली लोग भैंसों की बलि चढ़ाते हैं। इसी मन्दिर के नाम से ही

सारी बस्ती का नाम कालीधुरा (काली का जंगल) पड़ गया था।

उस पवित्र स्थान पर अधिक देर तक खड़े रहना कठिन था। रमेश जल्दी जल्दी नीचे की ओर उतरने लगा। नदी के इस किनारे और भी कई छोटे-बड़े मकान थे, जिनमें से कुछ पक्के बने थे। वह कुछ आगे बढ़ा था कि किसी ने उसे पुकारा, "आइए दरोगाजी, आज यहाँ कहाँ भटक पड़े।"

उस समय रमेश को यद्यपि किसी भी पूर्व-परिचित साथी का मिल जाना बहुत पसन्द आता; पर इस आह्वान को सुनकर उसका मन किंचित् भी प्रसन्न न हुआ। एक तो वह दरोगाजी सम्बोधन से ही चिढ़ता था (क्योंकि अब वह सब-इंस्पेक्टरी से मुक्ति पाकर सर्किल इन्स्पेक्टर हो गया था), दूसरे इस स्थान पर तो उसका किसी के द्वारा पहचान लिया जाना उसकी इस लम्बी यात्रा को ही विफल कर देता। पुकारनेवाला निकट आ गया तो रमेश की आँखें बरबस उस ओर उठ गईं।

"अब पहचानोगे भी नहीं क्या ? अच्छे हैं तुम्हारे सुपरिंटडेंट महोदय मिस्टर राय ?" उसने कहा।

रमेश ने देखा, लम्बी, काली दाढ़ी, सुन्दर गौर वर्ण, छरहरा शरीर, बन्द गले का काला कोट, सफेद टोपी और सफेद पाजामा, आयु तीस वर्ष से अधिक नहीं। व्यक्ति पहचाना हुआ सा लगता था। सोचा, कब कहाँ देखा होगा इसे ? अरे, यही तो वह कम्युनिस्ट नेता जयपाल नहीं है। तत्काल उसे ध्यान आया, शायद यहाँ आकर इसने दाढ़ी बढ़ा ली हो।

हत्याकार और भयंकर प्रकृति के अभियुक्त से भी मतलब

पड़ने पर चापलूसी से बातचीत आरम्भ करने की अपनी पुलिसवाली चाल चलकर रमेश बोला—"आओ भाई, आओ। बहुत दिनों बाद मिले। कहो मजे में तो हो?"

"मजे में तो क्या हूँ, पर हाँ तुम्हारे ही उन दयालु अफसर राय की कृपा से तबीअत लगी रहती है और दो रोटियाँ मिल जाती हैं।"

"हूँ!" रमेश ने किंचित् मुस्कराकर कनखियों से उसकी ओर देखा, सोचा—'नाक में चोट का निशान नहीं दीखता। लँगड़ाकर भी यह नहीं चलता। सुपरिंटेंडेंट का नाम लेता है। उन्हीं के डर से इसका यहाँ आना हुआ होगा।' पर उस व्यक्ति का चेहरा वास्तविक प्रसन्नता से जगमगा रहा था। छल या प्रपंच का कोई चिन्ह उसके व्यवहार में न था। उसकी नाक की ओर अच्छी प्रकार देखकर, अपनी नोटबुक में दर्ज हुलिये का मन ही मन मनन करके, रमेश ने निश्चय कर लिया कि यह जयपाल नहीं हो सकता। पर इस भावना को कि वह एक डाकू से बात कर रहा है, वह अपने मन से न हटा सका, इसलिए उसे न पहचान पाने की बात को छिपाकर बोला—"ओहो, आज कितने वर्षों बाद मिले हम? जरा हिसाब तो लगाओ दोस्त।"

पास ही पत्थर की उस चौरस शिला पर बैठकर वह व्यक्ति बोला—"आओ, बैठ जाओ। यह मेरा प्रिय स्थान है। यहाँ से नदी के मोड़ का दृश्य बड़ा सुन्दर लगता है। हाँ, मुझे इस मुहकमे में आए होगया दिसम्बर-दिसम्बर एक साल, जनवरी-फरवरी-मार्च; पन्द्रह महीने। तीन महीने ट्रेनिंग में रहा। उससे पहले तो दफ्तर में आपसे भेंट हो जाती थी।

आप रिटायर होनेवालों का मेडिकल सर्टीफिकेट बनवाने आते थे। वहीं तो लेडी डाक्टर हेमनलिनी से, उस परोपकारी महिला से परिचय हुआ था।"

'अच्छा, यह है सिविल-सर्जन के दफ्तर का क्लर्क भगवानदीन,' रमेश ने मन ही मन प्रसन्न होकर कहा—'मैं इसे जयपाल समझा। पुलिस प्रकृति भी कैसी होती है! महल में पहुँच कर भी सांप बिल ही खोजता है। ऐसी सरल प्रकृति का भोला-भाला भगवानदीन और मैं इसे समझ बैठा एक डाकू।' वह फिर बोला—"हां, तो हुआ केवल डेढ़ वर्ष, पर आपकी दाढ़ी और यह अनोखा वेश देखकर तो मालूम होता है कि आप इन्हीं वनों में तपस्या करनेवाले ऋषि-मुनि होंगे। उजाड़ से जंगल में क्या दाढ़ी बनाने की फुरसत नहीं मिलती?"

"फुरसत तो मिलती है पर" कुछ झेंपते हुए भगवादीन ने कहा—"क्या दाढ़ी मुझे बुरी दीखती है? यहाँ नाई नहीं है। साल भर में जब वह बड़ा मेला लगता है तभी नाई आते हैं। अगर दाढ़ी अपने हाथ से बना भी ली जाय, तो बालों को काटनेवाला नहीं मिलता, इसलिए दाढ़ी और बाल दोनों बढ़ाने पड़ते हैं।"

"तबीअत लग जाती है यहाँ?" रमेश ने पूछा।

"आदमी की तबीअत ही क्या? आवश्यकता के अनुसार रुपया मिल जाय, तो जगल में भी तबीअत लग जाती है।" भगवानदीन ने कहा—"यहाँ वेतन अच्छा मिल जाता है। उस दफ्तर में सब मिलाकर सतासी रुपये मिलते थे। यहाँ तनख्वाह, महँगाई तथा और भत्ते मिलाकर दो सौ से ऊपर मिलते हैं।

अभी तो ट्रेड-एजेण्ट का सहायक हूँ, पर आगे पाँच सौ रुपये तक उन्नति का अवसर है। यह सब आपके राय महाशय की कृपा है।"

प्रगल्भ तथा कृतज्ञ स्वभाव का वह भगवानदीन राय महाशय की, अपने प्रति की गई उदारता से, उसका बखान करके ही मानो उऋण होने की व्यग्रता में कहता गया—"हेम-नलिनीजी से मेरा दफ्तर का परिचय था। परिचय क्या था, कुछ नहीं, भला एक क्लर्क का एक डाक्टर से क्या परिचय! पर वह थी बेचारी बड़ी दयालु। सिविलसर्जन की प्रैक्टिस उस लेडी डाक्टर के आने से आधी रह गई थी, आधी। क्योंकि औरतों और बच्चों की बीमारी की किसी भी मुहल्ले से खबर क्यों न आ जाय, वह तत्काल उपचार के लिए पहुँच जाती थी। फीस का लोभ उसे न था। सिविल-सर्जन था लालची, इसलिए उस बेचारी से कुढ़ता था। समय समय कुछ न कुछ रिपोर्ट उसके विरुद्ध आई० जी० (इंस्पेक्टर-जनरल) को भेज देता था। मुझे यह सब अच्छा न लगता था। मैं उस लेडी डाक्टर को जब कभी ऐसी व्यर्थ की रिपोर्ट ऊपर भेजी जाती, फाइल दिखा देता था। अन्त में सिविलसर्जन की बदली हुई।

"शादी के बाद भी मैं उनके घर आता-जाता रहा। उनके पति भी बड़े सज्जन और दयालु पुरुष हैं। हमारे पुरखे कहा करते हैं कि अमुक अंग्रेज अफसर इतना उदार था कि उसने गरीब लोगों की ऐसी सहायता की कि अपने व्यय से विलायत जाकर पढ़ने का खर्च दिया। पर मिस्टर राय को देखिए, मुझसे वे ऐसे मिलते थे, मानो मैं उनके बराबर के ओहदे का कोई उच्च अधिकारी होऊँ। चाय और सिगरेट तो पेश करते ही थे, कभी-कभी खाने पर भी बुला लेते थे। एक बार तो उनकी मित्रमंडली

में मैं ऐसा फँसा कि कुछ पीनी भी पड़ी। शर्म आती है अपने कृत्यों पर, पर अब मैं प्रण कर चुका हूँ कि वैसी गलती मुझसे कभी न होगी। इसलिए इस गलती की ग्लानि को सभी के सम्मुख उसे स्वीकार करके कम करता हूँ। उस दिन मुझसे कुछ गुस्ताखी हो गई। ठीक याद नहीं, मैं क्या क्या बक गया। वे मुझे चिढ़ा रहे थे और मैं उत्तर में अंटसंट बक देता था। पर उन्होंने किंचित् भी बुरा न माना। हेमनलिनी कुछ नाराज हो गई थीं। मेरे ही कारण उस दिन पहले-पहल पति-पत्नी में कुछ खटपट भी हो गई। पर मुझसे दोनों में से किसी ने कुछ न कहा। उलटे मेरी भलाई के लिए सुपरिंटेंडेंट साहब ने कहा, "तुम जैसे व्यक्ति के लिए अस्पताल की नौकरी व्यर्थ है। तुम्हारे लिए हम एक पत्र लिख देते हैं। तिब्बत में अभी अभी जो भारतीय ट्रेड कमिश्नर नियुक्त हुआ है, क्या तुम्हें उसके साथ काम करना पसन्द होगा ? वेतन भी अच्छा है।"

'मैंने कहा—'मैंने पहाड़ पर ही रहना चाहता हूँ। मैदान जिलों की गर्मी मेरे अनुकूल नहीं है।'

"वे बोले—तिब्बत क्या गर्म देश है, फिर तुम्हें तो तिब्बत और भारत की सीमा पर रहना पड़ेगा सदा पहाड़ में।

"मैंने स्वीकृति दे दी और उन्होंने मेरी नियुक्ति दार्जिलिंग में करादी। वहां जाकर मैंने फिर उन्हें पत्र लिखा कि इस जिले में भी एक स्थान रिक्त है। यदि वे अपने मित्र को लिख सकें तो मेरी बदली घर के नजदीक हो सकती है। उत्तर में उन्होंने डाँट लिखकर भेजी कि अपने घर निकट आने की मूर्खता न करना और यह भी लिखा कि वे ऐसे काम में मेरी सहायता नहीं कर सकते।"

रमेश ने पूछा—"तुम तो इसी जिले के रहनेवाले हो, फिर कैसे दार्जिलिंग से यहाँ आ गए ?"

वह बोला—"मैंने अपने कमिश्नर की खुशामद की। पूरे एक वर्ष तक दार्जिलिंग के नाकों पर रहकर टैक्स की वसूली को तिगुना कर दिया, तब कहीं यहाँ तबादले की आज्ञा हुई।"

रमेश ने कहा—"मैं अब लौटकर तुम्हारे विषय में कहूँगा उनसे।"

"कह देना, मेरा उन दोनों से सादर नमस्ते कह देना।" भगवानदीन ने कहा, फिर कुछ सोचकर वह बोला—"नहीं, कुछ न कहना। शायद वे नाराज हो जायँ कि मैं उनकी इच्छा के विरुद्ध यहाँ क्यों चला आया। बड़े आदमी हैं। उनका क्रोध भी कम भयंकर नहीं होता।"

रमेश ने कहा—"पर अब तो तुम अपनी इच्छा से नहीं, अपने कमिश्नर के हुक्म से यहाँ नियुक्त हुए हो, अब वे नाराज न होंगे।"

"तब भी कुछ न कहना ठीक होगा।" वह बोला। फिर रमेश ने घुमा-फिराकर जयपाल के विषय में पूछा। भगवानदीन उस सम्बन्ध में उसकी कुछ भी सहायता न कर सका। रमेश दो दिन और उस नदी की अनवरत सायँ-सायँ से प्रतिध्वनित घाटी में रहा। उसे ज्ञात हुआ कि जयपाल जैसा व्यक्ति वहाँ तब तक न तो कभी आया था और न तिब्बत या नैपाल की ओर गया था।

(४)

रमेश मनमारे लौट आया। जाते समय पर्वतीय स्थान का बारह मील का वह पैदल मार्ग उसे इतना सुहावना और सुगम

लगा था कि वह हवा पर थिरकता हुआ सा चला गया था, अब लौटते समय वही मार्ग उसे दुर्गम और वही यात्रा बड़ी दुष्कर ज्ञात होने लगी। ज्यों त्यों करके उसे समाप्त करके वह तीसरे दिन सदर पहुँचा।

ज्ञात हुआ कि कप्तान साहब दौरे पर गए हैं, दो तीन दीन में लौटेंगे। उसने सोचा, अच्छा हुआ अपनी विफल यात्रा के दुखद वर्णन की अवधि बढ़ गई। शायद इस बीच किसी और सूत्र से जयपाल का पता लग जाए। कई दिन जंगलों में भटकते रहने के कारण उसने सोचा कि चलो आज सिनेमा ही देख लिया जाए। छः बजे के लगभग वह अपने प्रिय सिनेमा घर तक टहलते-टहलते पहुँच गया।

दूर से उसकी दृष्टि मैटिनी-शो से निकलती हुई कुछ महिलाओं पर पड़ी। वह मन ही मन आशा करने लगा कि यदि हेमनलिनी भी उनमें होती तो उसका सौभाग्य होता, यद्यपि मन ही मन वह यह भी सोचता कि यह एक दुराशा मात्र है, हेमाजी अपने पति के साथ दौरे पर गई होंगी। फिर महिलाओं के झुंड में एक नीली साड़ीवाली युवती को चुनकर वह आशा करने लगा कि वही हेमाजी हो जायँ तो भगवान् की उस पर बड़ी कृपा हो। वह अपनी विफल यात्रा का वर्णन उनसे करके अपने हृदय की क्लान्ति का भार कम कर लेगा। और उन्हीं के द्वारा यदि यह समाचार पहले ही सुपरिंटेंडेंट साहब तक पहुँच जाय, तो वह अपने मुँह से अपनी पराजय का वर्णन करने की लज्जा से भी कुछ बच जायगा।

उस महिला ने अपनी एक सहेली से विदा लेकर ज्योंही रमेश की ओर मुँह फेरा, उसने देखा वह और कोई नहीं, उसी का आराध्य देवी हेमनलिनी है। उसी क्षण वह अपनी सारी

थकान से छुटकारा पाया और जल्दी-जल्दी आगे बढ़ा। हेमाजी ने उसकी ओर दृष्टिपात नहीं किया। वे निकट ही एक बड़ी कपड़े की दूकान में जाकर विक्रेता युवती से बातें करने लगीं। ऊन के कुछ नमूने लेकर हेमाजी बाहर निकलीं, रमेश जो अब तक बाहर ही खड़ा था, फिर पीछे होलिया। जल्दी ही उनके सम्मुख आकर उसने दोनों हाथ जोड़कर कहा—'नमस्ते।'

हेमनलिनी ने एक बार उसकी ओर देखा और अपने बैग लिये हुए हाथ को प्रत्युत्तर में केवल उठा भर दिया। उनको रमेश की इस प्रकार बाजार में बात करने की धृष्टता पर झुँमलाहट हुई। उस समय उससे वार्त्तालाप आरम्भ करना उन्हें बिलकुल ही पसन्द न था। पर रमेश ने समझा कि उस दिन मैं वर्दी में था और आज सादे वेश में हूँ, इसलिए शायद मुझे उन्होंने पहचाना नहीं।

रमेश से छुटकारा पाने के लिए श्रीमती राय मुड़कर उस ओर चल दीं, जिधर से उनकी एक पहचान की स्त्री सब्जी लेकर आ रही थी। उसे पुकार उन्होंने कहा—"मिस लूथर, कहो अच्छी तो हो?" उस स्त्री ने मुड़कर सलाम किया और दोनों महिलाएँ बातों में संलग्न हो गईं। श्रीमती राय ने सोचा कि इस प्रकार रमेश व्यर्थ ही अटका सा न रहेगा और अपने काम पर चल देगा। पर रमेश को तो उस समय कोई काम ही न था, होता भी तो शायद हेमाजी से अपनी दुखद यात्रा का वर्णन करके दो-एक शब्द सहानुभूति के प्राप्त कर लेना ही सबसे महत्त्वपूर्ण काम होता।

मिस लूथर से बात करने के उपरान्त जब श्रीमती राय आगे बढ़ीं तो उन्हें प्रसन्नता हुई कि रमेश कहीं आसपास

खड़ा न था। उनकी इच्छा थी कि पैदल ही क्लब होते हुए घर की ओर चला जाय। पर कुछ दूर आगे चल पाई थीं कि रमेश निकटवर्ती थाने की ओर से लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ ठीक उन्हीं की ओर आता दीख पड़ा। उन्होंने सोचा 'वह पहाड़ की उस यात्रा से लौट आया होगा। न जाने मेरे उस दिन उसे स्टेशन पर छोड़ आने का वह मन ही मन क्या अर्थ लगा रहा है। निरा मूर्ख है! मैं चाहती हूँ कि वह मुझसे न बोले; पर उससे तो पल्ला छुड़ाना कठिन है।'

सौभाग्य से उस समय एक टैक्सी उसी मार्ग से खाली लौटती हुई दिखलाई दी। उसे रोककर श्रीमती राय ने क्लब की ओर चलने को कहा। उनके बैठ जाने के उपरान्त मोटर ज्योंही कुछ आगे बढ़ी, रमेश ने उसे रोक दिया। उसे तो अपने उस पुराने परिचय को उस दिन फिर स्थापित करके आज एकाएक हेमनलिनी द्वारा विस्मृत हो जाना बहुत खल रहा था। उस समय उनकी मोटर के नीचे दबकर मर जाने पर भी उसे सन्तोष होता, बशर्ते प्राण निकलते समय हेमनलिनी पहचान-कर कह देती, 'अरे यह आप थे रमेश बनर्जी, हमारे सर्किल इन्स्पेक्टर!'

मोटर रुक गई। रमेश ने दरवाजे से सिर अन्दर डालकर बँगला में कहा—'मैं हूँ रमेश...।' पर वह आगे न कह सका। हेमनलिनी के तेजस्वी नेत्र जरा चमककर कठोर हो गए थे। रमेश को ज्ञात हुआ कि उसने अदम्य अपराध किया, जो ऐसी आत्मीयता प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। हेमनलिनी के काले विस्फारित चकित हिरनी के से नेत्र उसी के मुँह पर आबद्ध थे। 'आश्चर्य है कि यह मेरा अकेले में विश्वास नहीं करती। इस भयंकर गलती के लिए क्षमा कैसे माँगी जाए?'

रमेश ने सोचा 'किस प्रकार कौन सी प्रियतम वस्तु गवाँकर अपने उन शब्दों को वापस लूँ ?'

हेमनलिनी ने ही परिस्थिति सँभाली, कहा—'बैठ जाओ, आगे ड्राइवर के साथ।' मोटर चल पड़ी। कई क्षण तक कोई कुछ न बोला।

जब मोटर क्लब की ओर मुड़ी तो श्रीमती राय ने उसे रोककर कहा—"क्लब नहीं जायँगे। सीधे चलो।" जब कोठी के समीप आकर फिर ड्राइवर ने रमेश का संकेत पाकर, मोटर धीमी कर फाटक की ओर मोड़ी तो फिर श्रीमती राय ने रोककर कहा—"नहीं, आगे बढ़ो। कह दिया कि सीधे चलो।"

टैक्सीवाला इस आशा से मनमारे आगे बढ़ता रहा कि न जाने अब कहाँ जाने का हुक्म होता है। सम्भ्रान्ता नारी का वह कुपित रूप देखकर उसे यह पूछने का साहस न हुआ कि अब कहाँ जाना होगा। बहुत दूर आगे 'मसानिक लाज' का बंगला था, जिसे साधारण लोग, टैक्सी और ताँगेवाले, जादू-घर कहा करते थे। शायद वहीं तक चलना होगा, यही अनुमान लगाकर वह आगे बढ़ता गया। पर सिविल लाइन्स के बँगलों की समाप्ति जहाँ पर हो जाती है, उससे आगे जहाँ ईसाइयों का कब्रिस्तान था, वहीं पर मोटर रोकने का आदेश देकर हेमाजी मोटर से चटपट उतर गईं और अफसराना ढंग से अंग्रेजी में रमेश को सम्बोधित करके बोलीं—"अच्छा इन्स्पेक्टर, चलो तुम्हारी भी बातें सुनली जायँ। मुझे अपनी एक साथिन की कब्र पर फूल भी चढ़ाने हैं।"

फाटक के अन्दर जाकर माली से कुछ फूल लेकर वह उस ओर चलदीं, जहाँ विशाल यूकेलिप्टस के पेड़ों के नीचे कई मृत नर-नारियों के पार्थिव शरीर भूगर्भ में विश्राम कर रहे थे।

एक पर्याप्त ऊँची कब्र पर श्रद्धा से नतमस्तक हो फूलों का गुच्छा धीरे से रखकर श्रीमती राय उसी चबूतरे की एक सीढ़ी पर बैठ गईं और पास ही पत्थर की एक शिला पर रमेश को बैठने का संकेत करके उन्होंने कहा—"मैं जानती हूँ, आपकी वह पहाड़ी यात्रा निष्फल रही। आप वहाँ न जाते तो ठीक था।"

रमेश ने देखा, उन्माद, झुँझलाहट और वह क्रोध का सा भाव अब उनकी मुद्रा पर न था। अब उनकी दृष्टि में एक बहुत अनुभवी माता की सी सावधान सतर्कता झलकती थी। मानो वे जीवन-पथ पर बहुत दूर आगे बढ़कर पीछे, रमेश जैसे अबोध बालक की ओर, मातृतुल्य स्नेह से देख रही हों। रमेश ने ऐसी ही विचारमग्ना और चिन्तिता उन्हें उस दिन रेल-गाड़ी पर बैठते समय भी देखा था। आगे बातें न बढ़ सकीं। रमेश की सारी बातें तो उनके उन दो वाक्यों में ही समाप्त हो गई थीं। उसे कुछ कहने का साहस ही न हुआ। उदास भावनाएँ उस श्मशान की सी भूमि में दम घुटनेवाला सा वातावरण उत्पन्न कर रही थीं। उस समय रमेश को दाढ़ीवाले भगवानदीन का ध्यान आ गया। चटपट उत्साहित होकर वह बोला—"वहाँ मुझे भगवानदीन मिला था। वैदेशिक विभाग में काम करता है वह। सिविल-सर्जन का वही पुराना क्लर्क, आपको उसने नमस्ते कहा है।"

भगवानदीन का नाम सुनकर हेमनलिनी का चेहरा उतर गया। वे आकर्ण सी होकर विस्फारित नेत्रों से रमेश की ओर देखने लगीं। रमेश ने तुरन्त समझ लिया कि उससे आज दूसरी बार एक भयंकर गलती हो गई।

एक उच्छ्वास लेकर हेमनलिनी ने कहा—"मैं भगवानदीन को नहीं जानती। जो हेमनलिनी उसे जानती थी, वह बहुत पहले

मर गई है। तुम मेरे या मेरे पति के सम्मुख उसका नाम लेकर अपना तो कुछ भी भला न कर सकोगे, पर उसका भी अनिष्ट कर बैठोगे। रमेश, मुझे मालूम न था कि विवाह के उपरान्त मेरे पति व्यर्थ ही ऐसी ईर्ष्या के शिकार हो जायँगे। मैं अन्धी थी जो पुरुष के इस परिवर्तित स्वभाव की कल्पना पहले न कर सकी। विवाह से पूर्व मैं तो काल्पनिक संसार में थी। जब विवाह हुआ तो मैंने जाना कि मनुष्य के भी वर्ग होते हैं। अपने से भिन्न वर्ग के व्यक्ति को मनुष्य अपनी ही भाँति प्यार और घृणा करते नहीं देख सकता। पुरानी हेमनलिनी अब उसी भिन्न स्तर पर आ गिरी है, जहाँ पर उसके लिए अपने पूर्व परिचित मित्रों तथा साथियों को न पहचानना ही हितकर है। उस दिन मैंने आपको पहचान लिया, उसीका दंड आपको मिला कि आपको पहाड़ को वह यात्रा करनी पड़ी। आपकी ही भाँति भगवानदीन भी हमारे घर पर आया करता था। बेचारा हमारे अस्पताल के दफ्तर का सीधा क्लर्क था। न जाने मेरे पति को उसका आना क्यों खला। मना करने के बजाय उन्होंने प्रतिदिन उसे चाय पिलाना आरम्भ किया। फिर वह खाने पर भी बुलाया जाने लगा। एक दिन उसे शराब भी पीनी पड़ी। शायद वे यह जानना चाहते थे कि शराब के नशे में वह अपने मन की बात, मेरे प्रति अपनी किसी गूढ़ कहानी को प्रकट करेगा। ऐसी रहस्य की बात थी ही नहीं, जो प्रकट होती। पर भगवानदीन पर उन्हें न जाने क्यों सन्देह हुआ, इसीलिए उसकी नियुक्ति दार्जिलिंग कर दी गई।

"कितने भीषण ईर्षा के आवरण के उपरान्त मैं उनके हृदय तक पहुंच पाती हूँ। काश, मैं अपना अन्तर चीरकर उन्हें दिखला सकती कि मैं कैसे निर्मल मन से उन्हें प्रेम करती हूँ। पर शायद

मैं निर्दोष नहीं हूँ। उन्हीं के कथनानुसार, डाक्टर होने के कारण मुझमें मानव के प्रति, सभी प्रकार के मानवों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। यह नहीं होना चाहिए। अब मैं हूँ किसी एक की अर्द्धांगिनी, मेरा अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व तो हो नहीं सकता। तब आप सब लोग मेरे उस पुराने व्यक्तित्व को मुझमें क्यों पहचानते हैं? मेरा नया रूप ही मेरा वास्तविक व्यक्तित्व है। मुझे अब समाज की सेवा छोड़कर एक व्यक्ति की, अपने पति की सेवा करनी है। उन्हीं के विभिन्न रूपों को पहचानना है, न कि पुराने परिचितों को। आप भी तो सोचते होंगे यही नारी का कर्त्तव्य है? तब मेरी भूल पर आप क्यों भूल कर बैठते हैं?" कहकर हेमनलिनी मुस्कराने का सा प्रयत्न करके रमेश की ओर देखने लगी। उस मन्द मुसकान में लोहे की सी शीतल झंकार थी।

रमेश उसकी उस कातर दृष्टि को कभी न भूल सकेगा। उसका मस्तिष्क चकराने लगा। पुलिस-विभाग में आकर उसने बड़ी भयंकर गलतियाँ की हैं। कई बार तो वह अपनी गलती के कारण अपना जीवन ही खो चुका था। पर आज, इस नारी के हृदय को, उसकी वास्तविक परिस्थिति को समझने में उससे जो गलती हुई, वह उसकी समझ में, उसकी सबसे भयंकर गलती थी। सिर नीचा किए वह निस्तब्ध, मृतकों की उस नगरी में स्वयं भी उन्हीं की भाँति पृथ्वी में गड़ जाने की इच्छा करने लगा। उस विषम परिस्थिति से कहीं छुटकारा पाने की कोई तदबीर उसे न सूझती थी।

उसकी आँखें संकुचित हो गईं और ऊँघते हुए बालक की भाँति घुटनों के बीच उसका सिर बारबार गिरने लगा। फिर

उसने सोचा—'चलो क्षमा माँग लूँ। आखिर मेरे अफसर की पत्नी तो हैं। यह उन्हीं के समान मेरे लिए आदरणीय भी हैं।'

तब सिर ऊँचा उठाकर हेमनलिनी की ओर देखते हुए उसने क्षमायाचनार्थ कुछ कहना चाहा। हेमनलिनी की दृष्टि उस समय पुराने काई लगे क्रासों, मेरी तथा ईसा की मूर्तियों से अलंकृत कब्रों से आगे कंकड़ बिछी सड़क पर थी, जो गिरजे की ओर जाती थी। उसी ओर देखती हुई वह भी मानो किसी दूसरे को ही सम्बोधित करके भारी स्वर में बोली—"मैं ही उनसे कह दूंगी कि तुम मुझसे मिलने आए थे। यही ठीक होगा। शायद इससे तुम्हारा भी भगवानदीन की भाँति कुछ उपकार हो जाय। अभी तुम बच्चे ही हो। तुम्हें देश-विदेश घूमना चाहिए।"

... ...

अगले सप्ताह रमेश की नियुक्ति उस पुलिस की टुकड़ी के कमांडर के पद पर हो गई, जिसे पहली जून को तिब्बत की सीमा पर स्थित नई काश्मीरी पुलिस को बेतार की शिक्षा देने के लिए जाना था।

———

मन की बात

संकोचशील धर्मानंद अपने मन की बात आज भी इंदिरा से न कह सका। अब इंदिरा जा रही थी। कुर्सी से उठते हुए उसने कहा—"आज आप जैसे विद्वान् से वार्त्तालाप करने में ज्ञानोपार्जन भी हुआ और समय भी कट गया, अन्यथा इस पहाड़ी कस्बे में कभी-कभी तो समय काटे नहीं कटता"।

उत्तर में केवल "वाह्" कहकर धर्मानंद ने हाथ जोड़ दिए। वह वाक्पटु नहीं है। एक बार बातचीत का क्रम चल पड़ने पर व्याख्याता की भाँति वह भाषण तो दे सकता है; किन्तु साधारण बातचीत का ढंग उसे नहीं आता। महिलाओं से तो वह अपनी मातृभाषा पहाड़ी में भी बोलने में अटपटा जाता है। इसका कारण है कि वह पहाड़ी देहात में रहा, वहीं मिडिल तक पढ़ा और अध्यापक हो गया। निरीह पर्वतीय ग्रामीण बच्चों के बीच वर्षों बिताकर प्रौढ़ावस्था में उसे नगर (यदि अल्मोड़े के पहाड़ी कस्बे को नगर कहा जाय) में आने का अवसर मिला। यद्यपि अल्मोड़े आकर उसने अध्यापन-कार्य के साथ-साथ घर बैठे बी० ए० तक की परीक्षाएँ दे डालीं; किन्तु इससे उसकी पुस्तकों से ही घनिष्ठता बढ़ी, मित्रों से मिलने और बातचीत करने का उसे अभ्यास फिर भी नहीं हुआ।

बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर उसकी नियुक्ति शिशु पाठशालाओं के सहायक इंस्पेक्टर के पद पर अल्मोड़े

जिले के सबसे उत्तरी और दुर्गम क्षेत्र, पिठोरागढ़ में हुई। वहाँ पहुँचने पर उसने इंदिरा को अपने आने की सूचना भिजवाई। इस प्रकार आज शाम इंदिरा उससे मिलने आई थी।

धर्मानन्द ने सचमुच तीन घंटे इंदिरा को अपनी बातों में तन्मय रखा। पहले उस प्रतियोगिता की बात हुई, फिर अल्मोड़े के स्कूलों की बातें चलीं। शिक्षा-विभाग में होनेवाले परिवर्त्तनों, विश्वविद्यालयों के दंगों, सरकार की पंचवर्षीय योजना पर भी वह वार्त्तालाप करता रहा। जब इंदिरा उठकर जाने लगी, तभी उसे ख्याल आया कि उसके मन की बात उसी के मन में रह गई। उसने अनेक बातें अनेक प्रकार से कहने के लिए संचित कर रखी थीं; पर बातचीत अप्रत्याशित रूप से दूसरी ही दिशा में चल पड़ी और उसकी सारी योजना फिर विफल हो गई।

इंदिरा कमरे से बाहर निकली, तो धर्मानन्द हाथ जोड़े उसका अनुसरण करता फाटक तक चला गया। अंत में साहस कर बोला—"अच्छा, नमस्ते। कल तो मैं यहीं हूँ, परसों चंपावत के स्कूलों का निरीक्षण करने जाऊँगा। कल आपसे कहीं मुलाकात हो सकेगी? मैं ही आ जाऊँगा उस ओर।"

अपनी इस बात को कहकर वह दूसरे ही क्षण सहम-सा गया। सोचने लगा 'क्या कह बैठा? इंदिरा को उसका यह व्यवहार शायद पसंद न आए। एक विधवा अध्यापिका अपने घर, एक युवक को आमंत्रित करना क्यों पसन्द करेगी? मेरे मुँह से बड़ी अशोभनीय बात निकल पड़ी।' पर अब हो क्या सकता था? तीर तो कमान से छूट चुका था। 'भगवन!' वह मन ही मन प्रार्थना-सी करने लगा—'उसने किसी तरह

मेरी बात न सुनी हो। यही शुभ है कि वह मेरी बात को सुनकर भी अनसुनी करदे।'

किन्तु इन्दिरा का पाँव रुक गया, उसने मुड़कर कहा—"कल ? अच्छा, कल तो दिसम्बर की २४ तारीख है न ? कल हमारे स्कूल के निकट एक मेला लगेगा। है तो वह देहाती मेला, किन्तु चहल-पहल खूब रहती है। आप आ सकें, तो पाँच बजे शाम तक आ जाइए।"

उसके स्वर में नित्य की सी स्वाभाविकता थी और वही चिरपरिचित शान्त सरलता, जिसे धर्मानन्द गत चार वर्षों से अनुभव करता आ रहा है।

उस शान्त स्वर से फिर धर्मानन्द मानो जी उठा। सोत्साह बोला—"मैं आऊँगा; पाँच बजे तक अवश्य पहुँच जाऊँगा।"

उस नारी की सरल बातचीत का ढंग ही तो धर्मानन्द की सारी मनोभावना को आलोड़ित कर देता है। वह सोचने लगा—'उसमें मिथ्याडंबर नहीं, दंभ नहीं और कहीं किसी बात को घुमा-फिराकर कहने की प्रवृत्ति नहीं है। कहाँ उसका सरल हृदय और कहाँ धर्मानन्द की कलुषित भावनाएँ। वह नारी नहीं, देवी है।'

क्षण भर के शतांश में धर्मानन्द अपनी मनोभावना की तुलना इंदिरा की सरल, स्पष्ट बातचीत से करके उसके सम्मुख अपने को हेय समझने लगा। जहाँ उसे अपने जन्मस्थान पर, उसकी पार्वत्य छटा पर गर्व है, वहीं कभी-कभी वह सोच बैठता है कि उसकी भाषा परिष्कृत और उसकी बातचीत अशिष्ट भी उसके जन्मस्थान के अगम्य होने और उसके सभ्य

समाज के सम्पर्क में न आने से हो गई है। इस समय भी यही विचार उसके मस्तिष्क में आ गया।

इंदिरा के चले जाने के उपरान्त धर्मानन्द उसके शब्दों की मन ही मन मीमांसा-सी करके अनेक अर्थ लगाने लगा। सोचने लगा—'धन्यवाद किस लिए? अल्मोड़े की बातचीत के लिए? शिक्षा संबंधी मेरी जानकारी के लिए? और मैं उसकी दृष्टि में विद्वान् हूँ? वह कल शाम मेरी प्रतीक्षा करेगी?'

उसे आशा होने लगी कि शायद इंदिरा के मन में भी उसके हृदय की व्यथा की प्रतिध्वनि होने लगी है। आज इंदिरा के द्वारा दिया गया निमंत्रण उसे अपने सुखपूर्ण जीवनोदय के प्रभात-सा सुन्दर और सुखद लग रहा था। शायद अब इतने दिनों की प्रतीक्षा के सुखद अंत का आरंभ हो गया। कल वह निश्चय ही अपने मन की बात इंदिरा से कह सकेगा।

पर नहीं, कितनी बार उसने यही बात अपने मन में सोची और कितनी बार वह अपने संकोचशील स्वभाव के कारण अवसर चूक गया। उस वर्ष कन्या-पाठशाला के उद्घाटन के अवसर पर राज्यपाल आये थे। उनके स्वागतार्थ होनेवाले आयोजन में स्कूलों के इंस्पेक्टर के साथ वह कन्या-पाठशाला गया था। तभी उसका पहले-पहल इंदिरा से साक्षात् हुआ था। वह लड़कियों को "जनगण मन—" की धुन सिखाने गया था; किन्तु उसने देखा, इंदिरा उस धुन को उससे कहीं अच्छा जानती है। बच्चों के खेल-कूद के आयोजन में भी उसका ज्ञान धर्मानन्द से अधिक है। राज्यपाल के स्वागत के लिए बालक-बालिकाओं के सम्मिलित आयोजन का प्रबन्ध करते-करते उनको दो बजे शाम तक भोजन करने का

अवसर नहीं मिला था। इंदिरा भी पर्याप्त व्यस्त थी। दो बजे के लगभग उसने धर्मानन्द से कहा था—"आप जाइए मास्टर साहब, खाना खा आइए। आपके आने के उपरान्त मैं चली जाऊँगी।" उसके स्वर में आज ही की सी स्नेहिल और निष्कपट आत्मीयता झलकती थी।

धर्मानन्द ने किंचित् सकुचाकर कहा था—"जाऊँगा तो फिर रात तक न लौट पाऊँगा। जाकर चूल्हा जलाऊँगा तब खाना बनेगा और फिर खाना खाकर आने में तो घण्टों लग जायँगे।"

"मैं तो सोच रही थी" इंदिरा ने कहा था—"आपकी धर्म-पत्नी भूखी होंगी और आपके आने की प्रतीक्षा करती होंगी? तो आप यहाँ अकेले रहते हैं?"

'प्रतीक्षा?" धर्मानन्द ने किंचित् विनोद से कहा था—"अब वह बेचारी उस दुनिया में शायद मेरी प्रतीक्षा करती होगी और अभी वहाँ उसे मेरी बहुत प्रतीक्षा करनी होगी!"

इंदिरा एकाएक गम्भीर हो गई थी। उसने उदास होकर कहा था—"क्षमा कीजिए, मुझे ज्ञात न था कि आप विधुर हैं!"

इंदिरा के उस स्वर-परिवर्त्तन से उत्साहित होकर धर्मानंद बातचीत का प्रसंग आगे बढ़ाना चाहता था; किन्तु इंदिरा उसी समय एक लड़की की ओर आकर्षित होकर वन्दनवार ठीक कराने लगी थी।

उन दोनों को वहाँ शाम तक रहना पड़ा था। बीच-बीच में फिर कई बार कार्यक्रम के विषय में उन दोनों की बातचीत हुई

थी; किन्तु उस विषय पर फिर बातचीत का अवसर नहीं आया।

शिक्षण संस्थाओं के अधिवेशनों पर यदाकदा धर्मानंद की इंदिरा से भेंट हो जाती थी; किन्तु संकोची धर्मानन्द केवल "नमस्ते" के अतिरिक्त और कुछ न कह पाता था। उसने अब तक पता लगा लिया था कि इंदिरा विधवा है और उसकी तीन-चार वर्ष की एक लड़की भी है। ऐसी सुरूप और शिष्ट नारी के इस अल्पायु में विधवा होने पर उसके हृदय में दया उमड़ी पड़ती थी और बार-बार यही इच्छा होती थी कि उस संबंध में इंदिरा से बातचीत करके वह अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट कर सकता, तो अपने ही मन का बोझ हलका करता।

अगले वर्ष पाठशाला के वार्षिक अधिवेशन पर इंदिरा से फिर उसका साक्षात् हुआ था। वह दूर महिलाओंवाली कुर्सियों में बैठी थी। जलसे की समाप्ति पर वह सीधे धर्मानन्द के पास आई थी और उसने कहा था—"बधाई, आप बी० ए० पास हो गए हैं।"

धर्मानन्द बोला था—"धन्यवाद! आपको कैसे ज्ञात हुआ यह समाचार?"

'मैंने अखबार में देखा था।" इंदिरा ने कहा था—"अल्मोड़ा सेंटर से प्राइवेट परीक्षार्थियों में आप ही तो अकेले सेकेंड डिवीजन में आए हैं।"

धर्मानन्द की मुद्रा कुछ संकोच और कुछ प्रसन्नता से रक्ताभ हो गई थी। उस समय भी उसे इंदिरा से बातचीत करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं सूझ रहे थे। तभी पाठशाला

की बूढ़ी अध्यापिका ने इंदिरा के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा था—"हमारी अध्यापिका तो अबकी बार फेल हो गई।"

"अच्छा, आप भी परीक्षा में बैठी थीं ?" धर्मानन्द ने पूछा था—"क्या विषय थे आपके ?"

"हाँ", इंदिरा ने कहा था—"मैं बरेली केन्द्र से बैठी थी। दर्शन-शास्त्र, हिन्दी और इतिहास मैंने लिये थे। कुछ तो यहाँ पुस्तकें नहीं मिलीं, कुछ पढ़ने का अवसर नहीं मिला। व्यर्थ ही पचास रुपए गँवाए।"

"कौन-सी पुस्तकें ?" धर्मानन्द ने कहा था—"शायद पुस्तकें मेरे पास निकल आयें।"

फिर बातें चल पड़ी थीं। इंदिरा ने कहा था, पुस्तकें तो अब सभी उसके पास हैं। कहीं समझने में कठिनाई होगी, तो वह सहायता माँगने आयगी। सचमुच एक दिन वह अपनी एक छात्रा को साथ लिए धर्मानन्द के घर आ गई थी। पाश्चात्य दर्शन पर उसे कुछ पूछना था। धर्मानंद ने सुकरात, पैथोगोरस, अरस्तु, हेगेल तथा डेकार्टे पर तीन घंटे तक व्याख्यान-सा देकर सभी परीक्षोपयोगी प्रश्नों के उत्तर भी लिखवा दिए थे। इंदिरा उसके पांडित्य से बड़ी प्रभावित हुई थी। आज ही की भाँति वे अकेले देर तक साथ-साथ बैठे थे। फिलासफी की व्याख्या करते समय पाश्चात्य और पौर्वात्य सभ्यताओं पर जब बातचीत छिड़ी, तो धर्मानन्द ने ज्ञात कर लिया कि इंदिरा रूढ़िवादी नहीं, उसके विचार पर्याप्त आधुनिक और प्रगतिशील हैं। किन्तु अपनी वक्तृता में वह स्वयं खो-सा गया था और मन की बात कहने का उसे अवसर ही नहीं मिला था।

इंदिरा बी० ए० पास हो गई थी। उसकी नियुक्ति सोर घाटी में पिठोरागढ़ के स्कूल में प्रधान अध्यापिका के पद पर हो गई थी। उसे याद है कि वह भी मोटर स्टेशन पर गया था। कई छात्राएँ और अध्यापिकाएँ इंदिरा को पहुँचाने के लिए आई थीं। वह सबसे पीछे खड़ा हो गया। उसे महिलाओं की पंक्ति को तोड़कर इंदिरा के समीप जाने का साहस ही नहीं हुआ था, यद्यपि आज वह अपने हृदय की बात खोलकर इंदिरा से कहने का विचार करके उससे भविष्य में पत्र-व्यवहार करने की आज्ञा भी माँगने आया था। वह इंदिरा का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर ही न पाया था कि मोटर चल पड़ी थी। एक लम्बी आह भरकर जब वह लौटने को हुआ था, तो एक अध्यापिका ने उसकी कमीज की बाँह खींचकर उसका ध्यान आकृष्ट किया कि इंदिरा उसे बुला रही है। केवल उसी का अभिवादन करने के लिए उसने मोटर रुका दी है।

वह निकट गया था, किन्तु भावनाओं से इतना व्यथित हो गया था कि इंदिरा ने क्या कहा, यह भी न सुन सका था। स्वयं कुछ कहना तो उसके लिए असंभव हो गया था। फिर मोटर चल पड़ी थी। उसके उपरान्त उसने न तो कभी इंदिरा को पत्र लिखा और न वह यही जान सका कि इंदिरा कभी उसके विषय में सोचती है कि नहीं। स्वयं वह इंदिरा के उस अंतिम व्यवहार से ऐसा प्रभावित हुआ कि खाते-पीते, सोते-जागते अथवा बच्चों की कापियाँ देखते अनायास ही वह मन ही मन 'इंदिरा-इंदिरा-इंदिरा' जप उठता। जब उसे ध्यान आता कि वह क्यों इस नाम को जप रहा है, तो स्वयं ही अपनी विवशता पर उसे आश्चर्य होता कि प्रयत्न करने पर भी वह अपनी इस नई आदत को नहीं छोड़ सकता।

वह कौन-सी भावना के वशीभूत हो गया, स्वयं समझने में असमर्थ था। जब वह स्वयं अपनी इस नवनियुक्ति के उपरान्त चार दिन पूर्व सोर घाटी के लिए चलने लगा, तो इंदिरा की पुरानी छात्राओं ने एक पत्र और कुछ सामान उसे देने के लिए धर्मानन्द को दिए, तो उस बातचीत के समय इंदिरा का नाम उच्चारण करते ही उसकी जिह्वा ढीली सी पड़ गई। उसकी आँखों के आगे परदा-सा आ गिरा और अपनी उस रीती-रीती-सी दृष्टि को उन छात्राओं से छिपाने के लिए उसे अपना मुँह फेर लेना पड़ा।

अगले दिन शाम को अपना काम समाप्त करके जब वह इंदिरा से मिलने गया, तो अस्ताचलगामी सूर्य की किरणों से सोर घाटी बड़ी सुहावनी लग रही थी। वैसे भी वह घाटी पर्वत-प्रदेश की अन्य घाटियों से अधिक सुन्दर है। वहाँ पर पर्वत एकाएक चारों ओर से घिरकर घाटी को सँकरी और अँधेरी नहीं बना देते हैं। गोलाकार घाटी पर्याप्त विस्तृत है और पर्वत-श्रेणियाँ उस चौड़ी घाटी के किनारों पर दूर-दूर उठी हुई हैं। उस समय सूय की किरणों से दीप्त सारी घाटी गुलाब की एक विशाल पंखुड़ी सी लगती थी। घाटी के मध्य जिस टीले पर पुराने गढ़, स्कूल, कचहरी और बाजार था, वह उस विशाल पंखुड़ी का जीवन-रस-संचार करनेवाली नस-सा दीखता था। प्रकृति की उस मनोहरता के मध्य धर्मानंद पंखुड़ी के पुष्पकीट-सा प्रसन्न और मुग्ध था। इंदिरा उसकी प्रतीक्षा करती होगी, यह विचार उसकी धमनियों में रक्त की गति को तीव्र कर देता। वह सोचता कि वह कैसी अनोखी युवती है! जो कुछ मैं हूँ, उससे भी महान् वह मुझे समझती आई है। उसकी मेरे प्रति महा-

नता की धारणा ही तो मेरी उन्नति का कारण हुई है। उसी के कारण तो जो कुछ मैं था, उससे ऊँचा उठ गया। अब उपयुक्त अवसर आ गया। मुझसे अधिक साधना नहीं हो सकती। मैं आज बिना किसी भूमिका के उसे स्पष्ट ही बता दूँगा कि अब इस अभिसार की समाप्ति होनी चाहिए। हम दोनों को वैवाहिक सूत्र में बँध जाना चाहिए। आज मैं और किसी विषय पर बात ही न करूँगा।

यही सोचते-सोचते वह इंदिरा के निवास के निकट पहुँच गया। वह अन्य चार-पाँच महिलाओं के साथ बाहर ही टहल रही थी। इंदिरा पर दृष्टि पड़ते ही उसका हृदय जोर से धड़कने लगा। इंदिरा ने निःसंकोच उसका अभिवादन किया और अन्य अध्यापिकाओं से उसका परिचय कराया। फिर अपने कमरे के दरवाजे की चिक उठाते हुए उसने चाय पी लेने को कहा। धर्मानन्द सब कुछ देखते और सुनते हुए भी हक्का-बक्का-सा हो रहा था। वह सबसे पहले चिक के अन्दर प्रविष्ट हुआ। दूसरे ही क्षण यह देखकर कि तीन अन्य अध्यापिकाएँ भी चाय पीने अन्दर आ गईं, उसका दिल बैठ गया। यही नहीं, जब उसे यह भान हुआ कि महिलाओं के अन्दर आने की प्रतीक्षा किए बिना ही सबसे पहले स्वयं वही अन्दर आया, तो मारे लज्जा के उसे पसीना आ गया। अपनी घबराहट के कारण उसने पुरुषोचित भद्रता को भी इस समय भुला दिया।

चाय थी, पकौड़ियाँ थीं, एक तश्तरी हलुवा था और मेज के बीच सोर घाटी की वे बड़ी-बड़ी मीठी नारंगियाँ सजाकर रखी गई थीं, जो कुछ वर्ष पूर्व तक बड़े दिन के अवसर पर केवल अँगरेजों को ही इस प्रदेश में सुलभ थीं। किन्तु धर्मा-

नन्द को कुछ भी अच्छा न लग रह था। वह उन महिलाओं के मध्य अपने को बिल्लियों से घिरे पिल्ले जैसा असहाय अनुभव कर रहा था। उसकी अतिशय संकोचशीलता ने आज इंदिरा को भी आश्चर्य में डाल दिया। बातचीत का उत्तर वह केवल "हाँ, न" जैसे एकाक्षरीय शब्दों से दे रहा था।

उसी समय इंदिरा की पंचवर्षीया लड़की पुष्पा स्कूल की आया के साथ कमरे में आई। धर्मानंद की संकोचशीलता दूर करने के लिए इंदिरा ने पुष्पा की कुर्सी को उसके निकट ही लगा दिया। जब पुष्पा ने उसे 'अल्मोड़े के मास्टर साहब' कह कर पुकारा, तो इंदिरा ने संशोधन करते हुए कहा—"अब ये मास्टर साहब नहीं, इन्स्पेक्टर साहब हैं अल्मोड़े के इन्स्पेक्टर साहब!"

धर्मानंद पुष्पा से बातचीत में लग गया। उसने पुष्पा को एक पकौड़ी उठाकर दी। पुष्पा ने उसे नहीं लिया। फिर एक नारंगी उठाकर धर्मानंद ने पुष्पा की ओर बढ़ाई, तो उसे उसने उछलकर उठा लिया। फिर दोनों में शीघ्र ही अच्छी मित्रता हो गई। पुष्पा को धर्मानंद की टाई बहुत पसन्द आई। धर्मानन्द अपने बाल-मनोविज्ञान का प्रयोग पुष्पा पर करके उसे अपनी बातों से रिझाने लगा।

चाय के उपरान्त सब लोग मेले की ओर चले। मेला क्या था, एक ग्रामीण बाजार-सा था। उसमें तिब्बती, लामे, नैपाली और भोटिए अपने-अपने ऊनी सामान की दूकानें लगाए थे। हलवाइयों और चायवालों की दूकानें थीं। एक घूमने-फिरनेवाली सिनेमा कम्पनी का तम्बू भी एक बड़े देवदार के पेड़ के नीचे लगा था। ईसाई प्रचारकों ने भी अपनी दूकानें एक कोने में लगा रखी थीं, जहाँ एक गोरा धार्मिक गाने पहाड़ी भाषा में

गा-गाकर एक-एक पैसे में "सुसमाचार" नामक पुस्तकें बेच रहा था। मेले में धर्मानन्द का मन किंचित् भी न लगा। वह पुष्पा की उँगली थामे उसी के संकेत पर आगे बढ़ रहा था। मेले से हटकर जहाँ शहर का पक्का बाजार शुरू होता है, वहीं एक खिलौनेवाले की दूकान पर जाकर पुष्पा रुकी। दूकान पर एक बड़े से साइनबोर्ड पर लिखा था—"दिल्ली के जनरल मर्चैण्ट॥"

दूकान में अनेक प्रकार के खिलौने देखने के उपरान्त जब पुष्पा से धर्मानन्द ने पूछा कि वह कौन-सा खिलौना पसन्द करेगी, तो उसने उस बड़े-से गुड्डे की ओर संकेत किया, जिसे दूकानदार ने शायद अपनी दूकान की शोभा बढ़ाने के लिए गद्दा के पीछे रक्खा था।

"क्यों भाई, वह गुड्डा बिकाऊ है?" धर्मानन्द ने दूकानदार से पूछा।

"क्यों नहीं साहब, ले लीजिए।" दूकानदार ने उसे उठाकर धर्मानन्द के हाथ में देते हुए कहा—"पाँच रुपए का है।"

धर्मानन्द कोई चीज खरीदकर पुष्पा को अवश्य देना चाहता था। उस गुड्डे के अतिरिक्त पुष्पा को कुछ भी पसन्द नहीं, यह जानकर वह उसी को लेने को तत्पर हो गया।

"कुछ कम न करोगे?" पाँच रुपये का नोट उसकी ओर बढ़ाते हुए धर्मानन्द ने दूकानदार से पूछा।

"नहीं साहब, पहले की खरीद है।" दूकानदार बोला—"अब तो यही गुड्डा सात रुपए में भी नहीं मिलेगा। बड़े दिन

में दिल्ली में इसी को हम दस रुपए में बेचते हैं। यहाँ कौन करता है ऐसी चीजों की कदर ?"

इंदिरा भी अब अपनी सहेलियों से छुट्टी पाकर उस दूकान की ओर आ गई। धर्मानन्द ने देखा, वह अकेली है। अब भाव-ताव करने में देर लगाकर समय गँवाना ठीक नहीं, यही सोचकर इंदिरा के दूकान के अन्दर आने से पहले ही वह गुड्डे को लेकर बाहर आ गया और उसे इंदिरा को दिखाते हुए बोला—"पुष्पा को यही खिलौना पसन्द आया।"

पुष्पा माँ की ओर सशंक दृष्टि से देख रही थी कि कहीं वह अब भी खिलौने को वापस न करा दे; किन्तु उसने जब केवल यही कहकर बात समाप्त कर दी कि आपने व्यर्थ ही इतना व्यय कर दिया, तो बालिका को खिलौना हथियाने की उतावली हो गई। अपने ही संकल्प विकल्प में धर्मानन्द अब चुपचाप इंदिरा के साथ उस सुनसान सड़क पर चलने लगा, जो मेले से दूसरी ओर किले को जाती थी, और खिलौने को तत्काल पुष्पा के हाथ सौंपना बिलकुल ही भूल गया। पुष्पा जब उसे लेने उसकी बाँह तक उछली, तब उसे ध्यान आया।

अब खिलौने को उसके हाथ में देते हुए धर्मानन्द ने कहा—"लो, यह रहा तुम्हारा गुड्डा।" फिर बालिका को गोद में लेते हुए कहा—"अच्छा, लाओ हमें एक मिट्ठी (चुम्बन) तो देना।"

"नहीं।" पुष्पा ने अपने को छुड़ाते हुए बाल-सुलभ सरलता से कहा—"मैं तो मिट्ठी नहीं दे सकती। आप मिट्ठी माँजी से माँगिए, वही देंगी।"

इस प्रत्युत्तर को सुनकर धर्मानन्द क्षण भर अवाक् रह गया; किन्तु दूसरे ही क्षण उसे एकाएक प्रकाश-सा दीख पड़ा। जिस प्रसंग पर अब तक वह इंदिरा से संकोचवश बात नहीं कर सकता था, उसका आरम्भ इस समय अनायास ही बालिका ने कर दिया। इसमें विधाता का ही तो हाथ है, यह सोचकर एक अर्थपूर्ण दृष्टि से उसने इंदिरा की ओर देखा; किन्तु उसे भी स्तब्ध देखकर अपना स्वर्ण-सुयोग समझ वह कह उठा—"इंदिरा, सुना तुमने, क्या कहा बच्ची ने?" उसकी आवाज काँप रही थी। आगे क्या कहा जाय, वह स्वयं नहीं समझ पाया।

इंदिरा की आकृति को संध्या के उस झुटपुटे में यदि धर्मानन्द देख पाता, तो शायद उसकी मनोभावनाओं को समझ लेता। वह जिस बात को सुनकर भी अनसुनी कर देना चाहती थी, उसी का सहारा लेकर धर्मानन्द एक अनर्थ करने जा रहा है, इसे पल भर में ताड़कर इंदिरा ने झट अपनी स्वाभाविक सरलता से कहा—"अरे पगली, जैसे तेरी माँ अपनी माँग नहीं भरती, चूड़ी नहीं पहनती, वैसे ही वह किसी को मिट्ठी भी नहीं देती।"

धर्मानन्द की मुद्रा इस वाक्य को सुनते ही ऐसी पीली पड़ गई, मानो भरे गुब्बारे के अन्दर से हवा निकल गई। सन्ध्या के झुटपुटे ने उसकी लाज रख ली, अन्यथा उसके पाँव तक इस चोट से थरथराने लगे।

"झूठ-झूठ!" पुष्पा ने कहा—"माँ, तुम देती तो हो मिट्ठी।"

अब इस बात को सुनकर तो धर्मानन्द आजानु सिर काँप

गया। उसके लिए खड़ा रहना असम्भव हो गया। अपनी सारी सामर्थ्य लगाकर वह निकट ही दीवार का सहारा लेने के लिए उस ओर बढ़ने लगा।

किन्तु इंदिरा ने उसी प्रकार अपने स्वाभाविक स्वर में पूछा—"किसे देती हूँ मैं मिट्ठी?"

"मुझको तो देती हो।" पुष्पा ने कहा—"आज भी तो दी थी।"

इंदिरा खिलखिलाकर हँस पड़ी। यह ऐसी हँसी थी, जिसकी प्रसन्नता शरीर के रोम-रोम में थिरकती है; जब कि हृदय आनंद से आत्मविभोर हो एक अनोखी किलकारी मार उठता है। सच्चिदानन्द के उस आनन्दस्वरूप की मानो वह किलकारी अलौकिक झलक थी, जो धर्मानन्द को इंदिरा का एक नया ही रूप उद्भासित कर गई। वह शीघ्र ही प्रकृतस्थ हो चुपचाप इंदिरा के पीछे चलने लगा। वह सोचता जा रहा था कि अपने इसी रूप से तो वह मुझे नर से देवता बनाती आई है और मैं अपने ही देवमंदिर को अपावन करने को उद्यत था।

चौराहा आ गया। धर्मानन्द बोला—"अब आज्ञा दीजिए, चलता हूँ।"

इंदिरा ने कहा—"क्या अभी चल दीजिएगा?"

"हाँ", धर्मानन्द बोला—"कल जाने की तैयारी करनी है। कुछ अध्यापक लोग भी मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।"

किंचित् झुककर प्रणाम करते हुए इंदिरा ने कहा—"कभी-कभी अवश्य दर्शन दीजिएगा।"

"हाँ आऊँगा।" कहकर धर्मानन्द ने हाथ जोड़ दिए। वह इंदिरा की भाँति अभिवादनार्थ झुका नहीं; किन्तु उसके मन की बात पूछिए, तो इस देवी के प्रति वह श्रद्धा से ओतप्रोत था और चाहता था कि अभी जमीन पर लोटकर उसे कोटि-कोटि प्रणाम करे।

भेड़ और मनुष्य

दीनदयाल मजिस्ट्रेट का थका हुआ मस्तिष्क घर लौटते-लौटते पदोन्नति का सुखद समाचार पाकर फिर सजग हो उठा। दिन भर की वकीलों की बकझक, मुलजिमों की गिड़गिड़ाहट तथा बाबुओं की अशोभन त्रुटियों के कारण उपजी हुई झुंझलाहट सहसा ही समाप्त हो गई। वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता की धाक सरकार के सचिवालय तक में व्याप्त हो जाने पर मन ही मन सन्तुष्ट हुए। अपने द्वारा पिछले छः मास में निबटाए हुए सभी बड़े-बड़े मुकदमों की मन ही मन मीमांसा-सी करते हुए वे फिर अपने उस मुकदमे के विषय में सोचने लगे, जिसका निर्णय उन्होंने आज ही सुनाया था। इस मुकदमे में अपराधी रामगुलाम नाम का एक खटिक था, जिसने कानून के विरुद्ध छः मास के एक मैमने (भेड़ के बच्चे) की हत्या की थी। युद्धकाल में अंधाधुन्ध पशुओं के नित्य काटे जाने से पशुओं की घटती हुई संख्या को यथासम्भव रोकने के उद्देश्य से सरकार ने कानून बनाया था कि दो वर्ष से कम आयु के जानवरों की गोश्त के लिए हत्या न की जाए। सरकारी पशु-अस्पताल के डाक्टर और बकरियों के चरवाहे सरजू ने सबूत पक्ष की ओर से गवाही दी थी कि मैमना छः मास से कम का था। रामगुलाम ने अपराध स्वीकार किया था; कहा था—'कुछ लोग खास तौर से मैमने का ही गोश्त माँगते हैं, इसलिए मैमना मारना पड़ा है, वैसे स्वयं वह छोटे जानवरों की हत्या करने के विरुद्ध है। फिर उसे

ज्ञात न था कि सरकार ने दो वर्ष से कम आयु के पशु मारना वर्जित कर दिया है।'

उसे तीन मास के जेल की सजा सुनाई गई। आज दोपहर के समय कचहरी में फैसला सुना देने के बाद रामगुलाम की कातर मुद्रा को देखकर कुछ देर मजिस्ट्रेट दीनदयाल के मन में यह शंका बनी रही कि एक भेड़ के बच्चे को, जिसे मारने के लिए ही पाला जाता है और मरना ही होता है, मारने के लिए तीन मास के कारावास का दंड देना शायद ठीक नहीं हुआ। उन्होंने कानून की इस धारा को फिर पढ़ा और यह जानकर कि इस अपराध में अधिकतम निर्धारित दंड दो वर्ष का कारावास है, संतोष कर लिया कि तीन महीने का दंड अधिक नहीं है, यद्यपि अपराधी रामगुलाम दंड को सुनकर अवाक् रह गया। सोच रहा था कि सजा उसी को सुनाई गई या किसी दूसरे को। उसे यह विश्वास ही न हुआ कि अपनी ही भेड़ मारने पर और सरकार के द्वारा ऐसा लायसेंस प्राप्त होने पर कि वह भेड़ें काट सकता है, उसे यह दंड क्यों दिया गया। फिर भेड़ के बच्चे की उम्र का क्या अनुमान ? वही बच्चा छः महीने का कहा जा सकता है, वही साल भर का और कोई उसी को, यदि वह हृष्ट-पुष्ट हुआ, तो दो साल का भी बता सकते हैं। कोई जन्मपत्री लेकर तो बैठा नहीं रहता कि कब भेड़ का बच्चा पैदा हुआ और कब उसे दो वर्ष पूरे हुए। न ऐसे कानून बनाने वाली सरकार ने कोई भेड़ों के जन्म-मरण का आदमियों ही की भाँति खाता खोल रखा है, जिसमें उनकी जन्म और मृत्यु की तिथि दर्ज की जाए।

दूसरे मुकदमे की पुकार हो गई, पर सिपाही के इशारा करने पर भी रामगुलाम कठघरे में ही खड़ा रह गया। उसने

सोचा था, शायद तीन या चार रुपए जुर्माना होंगे, क्योंकि इतनी ही, उस भेड़ की कीमत, उस पहाड़ी शहर में होती। पर जब दुबारा मजिस्ट्रेट ने पुलिस के सिपाही को सम्बोधित करके कहा—'अब तक क्या बनाया नहीं गया जेल का वारण्ट! जल्दी करो, तीन महीने की सजा लिख दो।' तो वह अचरज से अपना सिर मटकाकर रोनीसी सूरत बनाकर बड़बड़ाता हुआ अदालत के कमरे से बाहर आ गया। मि० दीनदयाल को उस दिन फिर शंका हुई कि शायद अपराधी को जेल की सजा देना युक्तिसंगत न था, केवल जुर्माना ही कर देना चाहिए था। यद्यपि कचहरी में निर्णय किए मुकदमों के विषय में एक बार फैसला सुना देने के बाद फिर उस विषय में व्यर्थ दुबारा न सोचा जाए, ऐसा प्रयत्न वे करते रहते हैं; पर यह शंका आज घर लौटते समय भी उनके मन में बनी हुई थी। अब मार्ग में उन्हें उस समाचार को पाकर सन्तोष हुआ कि उस अपराध के लिए रामगुलाम को जो सजा मिली, वह ठीक ही थी। उनके निर्णय सदा ठीक होते हैं, और इसी लिए उन्हें पदोन्नति का यह अवसर मिला है। कानून के प्रति सूझ-बूझ और उसका सूक्ष्म व्यवहार, जो कि उनके द्वारा होता है, वह शायद अनेकों उन्हीं जैसे तथा उनसे भी 'सीनियर' न्यायकर्त्ता नहीं कर पाते, इसलिए तो वे लोग पीछे रह गए हैं और मिस्टर दयाल उन्नति पा रहे हैं।

दीनदयाल थे बड़े बुद्धिमान। उनके गंजे-चिकने सिर पर माथे का कहाँ अंत हुआ और सिर कहाँ आरम्भ हुआ, इसका कुछ अनुमान न लगता था। जो कुछ बात उनके सम्मुख कही जाती उसे वे ठिकाने लगा लेते। कहीं न कहीं उससे फायदा अवश्य उठा लेते। चाहे वह बात मुलजिम के मुँह से निकली

हो, चाहे किसी वकील के मुँह से या चाहे किसी और निपट गँवार के मुँह से। पर वह नसीहत या शिक्षा के तौर पर किसी से कुछ भी ग्रहण करना नहीं चाहते थे। यही दिखलाना चाहते थे कि जो कुछ वे करते हैं, आत्मनिर्भर होकर। स्वयं अपने अफसरों अथवा सरकार की स्पष्ट आज्ञा को भी घुमा-फिराकर वे अपने ही शब्दों और वाक्यों के जाल से ऐसा बनाकर नया आदेश जारी करते हैं कि सर्वसाधारण को यही ज्ञात होता है कि मिस्टर दयाल बड़े स्वतंत्र विचार के व्यक्ति हैं, दूसरों की हाँ में हाँ मिलानेवाले नहीं। आज भी वे सोच रहे थे कि मुलजिम ने जो कुछ कहा, ठीक कहा। वे पशुओं की आयु की स्पष्टता का उल्लेख अपनी सरकार को भेजी जानेवाली साप्ताहिक रिपोर्ट में अवश्य करेंगे अथवा पशुओं के अस्पताल या बूचड़खाने में पशुओं की आयु के लिखाने की व्यवस्था करेंगे।

उस पहाड़ी शहर में मनोरंजन के विशेष साधन न थे। अफसरों की संख्या इतनी कम थी कि किसी क्लब को चलाना, उसमें नौकर-चाकर, लकड़ी-कोयले का प्रबन्ध करना सम्भव न था। जाड़े के दिनों में दूकानें पाँच बजे ही बन्द हो जाती थीं और सारा कस्बा साँझ होते ही उजड़ी हुई नगरी-सा लगता था। सन्ध्या के चार-पाँच घंटे काटना बड़ा कठिन हो जाता था। अतः सरकारी अफसरों के गतिशील क्लब की बैठक बारी-बारी से डिप्टी कलक्टर, इंजीनियर, चुंगी दफ्तर के अध्यक्ष विश्वनाथ वकील और जंगल-विभाग के डी० एफ० ओ० के बँगलों पर होती थी। और जिलों में अफसर कुछ कार्याधिक्य के कारण व्यस्त रहने से, कुछ लोगों के अधिक सरकस होने से, जनता से तो दूर ही रहते हैं; आपस में मिलने

में अपने अपने बड़प्पन का ध्यान रखकर खिंचे-खिंचे से रहते हैं। पहाड़ पर काम कम था, लोग बहुत गरीब थे, अफसरों का समय काटे नहीं कटता था, अतः गम्भीर प्रकृति के अभिमानी अफसर भी साथियों के लिए तरसते थे और भेदभाव भूल जाते थे।

उस शाम गतिशील क्लब की बैठक की बारी मिस्टर दयाल के घर पर थी। थोड़ी देर में पड़ोसी इंजीनियर, डी० एफ० ओ० और वकील एकत्र हो गए। बड़े पहाड़ों की गोद में बिखरी अनेक टिब्बे जैसी पहाड़ियाँ यत्र-तत्र बिखरी थीं। उन्हीं में से एक टिब्बे पर दीनदयाल का बँगला था। सन्ध्या समय शीत ऋतु के सूर्यास्त की किरणें खिड़की और दरवाजों के शीशों पर लगे पतले, रेशमी परदों से छन-छनकर कमरों में आ रही थीं। जाड़े के कारण कमरे के अन्दर पहाड़ के सभी मकानों की भाँति अँगीठी जल रही थी। बाँज की लकड़ी के बड़े-बड़े चार कुन्दे अँगीठी में खड़े सुलगते दिखाई दे रहे थे। उनकी मन्द-मन्द लपटें कमरे में कुर्सी और मेज के पायों को अनोखी लाल-लाल आभा से चमका दे रही थीं। अँगीठी के पास ही एक बड़ा साधुओं का सा गज भर लम्बा चिमटा, एक धौंकनी और एक टोकरी रक्खी हुई थी। उन सब पर वही लाल रोशनी पड़ रही थी। टोकरी में चीड़ के, अनन्नास से भूरे रंग के सूखे तिकोने (फल), छोटी-छोटी पतली लकड़ियाँ ऊपर तक भरी रक्खी थीं, ताकि अँगीठी में आग के बुझते या मद्धिम पड़ते ही एक तिकोना या लकड़ी डाल दी जाय कि वह जल उठे। खेल के दौरान में मिस्टर दयाल ने वकील विश्वनाथ को सम्बोधित करते हुए कहा—"आज मैंने खटिक रामगुलाम को तीन महीने की सजा कर दी।"

"किस अपराध में ?" वकील ने पूछा।

"केवल: छः महीने के भेड़ के बच्चे को मारने के अपराध में।" मिस्टर दयाल ने कहा।

"हाँ, ठीक किया।" वकील ने कहा—"मैं तो एस० पी० सी० ए०(पशु-रक्षक सभा) का सदस्य हूँ और जानवरों पर किसी प्रकार की निर्दयता सहन नहीं कर सकता। आपने उसे मुनासिब सजा दी।"

"कोई वकील नहीं किया उसने !" मिस्टर दयाल बोले—"अपराध स्वीकार कर गया। जब सजा सुना दी गई, तब बड़बड़ाने लगा—"भेड़ की भी क्या कोई जन्म-पत्री होती है कि वह किस उम्र का होता है।"

मिस्टर दयाल अपनी बात कहकर मन की शंका-निवारण कर लेना चाहते थे कि देखें इस प्रसिद्ध वकील की राय में मेरे द्वारा दिया गया दंड ठीक था या नहीं; पर वकील भी अपनी एक विजय का समाचार सुनाने को उतावले हो रहे थे और बोले—"मैं उस मुकदमें में सेशन कोर्ट गया था। वही कत्ल का मुकदमा था, जिसे आपने ही सेशन सुपुर्द किया था—सरकार बनाम केशरसिंह।"

"हाँ, क्या हुआ उस मुकदमे में ?" मिस्टर दयाल ने बात-चीत में दिलचस्पी लेते हुए कहा—"उस जमींदार ने तो अपने नौकर को मारकर पुल के नीचे गिरा दिया था—वही जमींदार केशरसिंह ?"

वकील ने कहा—"मैं उसे छुड़ा लाया। जमींदार केशरसिंह मुक्त हो गया।"

"बिलकुल छूट गया ?" आश्चर्य से मिस्टर दयाल ने

पूछा—"केस तो बड़ा पक्का था। गवाही भी अच्छी हुई थी।"

"हाँ, बिलकुल छूट गया।" वकील ने अपनी अधकटी मूँछों पर ताव देते हुए कहा—"फीस अच्छी मिली थी। मैंने मिसल का गहन अध्ययन किया और एक नुक्स (दोष, निकाल लिया।"

जंगल के अफसर ने कहा—"अच्छा, क्या कोई दिलचस्प मामला था?"

मिस्टर दयाल बोले—"दिलचस्प तो नहीं, हत्या की एक अनोखी घटना थी, जिसमें मृत्यु के उपरान्त वह व्यक्ति या तो स्वतः पानी में गिर गया था या गिरा दिया गया था।"

ताश बँट गए और दाँव बोले गए। जंगल के अफसर की बोली मान ली गई। मिस्टर दयाल के पत्ते खुले। वकील ने सिगरेट का एक कश लेकर वकीलों की सी शिष्ट भाषा में कहा—"डिप्टी साहब, आप इस समय डमी (मूक) हैं। मेरा निवेदन है कि आप ही उस घटना को इन लोगों को सुना देने का कष्ट करें"।

"आप साहित्यिक प्रवृत्ति के हैं, घटना को भावमय भाषा में सुनायँगे भी।" इंजीनियर ने कहा।

विद्यार्थी जीवन में दीनदयाल कभी कविता करते थे। अब उनमें कवि तो जीवित नहीं है, पर उसकी याद आने पर वे अब भी पुलकित हो जाते हैं। इस समय भी साहित्यिक कहे जाने पर प्रसन्नता से बोले—"अच्छा सुनिए। शायद चार महीने पहले की घटना है। यहाँ से नैपाल की ओर जो सड़क जाती है, उस पर सेमल घाट के पास लकड़ी का एक पुल आपने देखा होगा।

पुल का एक पाया भारत में है और दूसरा नैपाल राज्य में। इसी पुल के ठेके से यह घटना संबद्ध है। गर्मी के बाद जब कौरियाला नदी में पानी बढ़ने लगता है, तो पुल को तोड़ दिया जाता है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की ओर से पुल का तीनसाला नीलाम होता है। पीढ़ियों से केशरसिंह जमींदार के पूर्वज इस पुल का ठेका लेते आये हैं। ठेके पर लगाया रुपया वह जमींदार उस पुल पर गुजरनेवालों से वसूल कर लेता है। आदमियों से एक पैसा, बोझवाले मजदूरों से दो पैसा, जानवरों से एक आना, ऐसे ही चुंगी जमींदार के कारिन्दे वसूल करते रहते हैं। इसमें किसी को आपत्ति नहीं, क्योंकि ऐसा कर नया नहीं था। पास-पड़ोस का बूढ़े से बूढ़ा आदमी भी जानता है कि उसकी याद से पहले से ऐसा कर उस पुल पर गुजरनेवाले देते आए हैं। इस वर्ष तीन साल की अवधि के पूरे होने पर जब पुल फिर से नीलाम हुआ, तो जमींदार के विरुद्ध उसका एक कारिन्दा शिवचरण बोली बोल गया। वह कारिन्दा जाति का लोनिया (धीवर) था, जिसका काम मछली मारना है, और जो अब तक कई वर्षों से इसी पुल के किनारे झोपड़ी बनाकर रहता था और जमींदार की ही ओर से दस या पंद्रह रुपये मासिक वेतन पर टैक्स वसूल करता था। गाँव-पंचायत के कहने पर इस लोनिए ने खुद तिगुनी बोली बोलकर पुल ले लिया।"

ताश का खेल जम गया। वकील साहब ने पहले ही विपक्षियों के ट्रुप निकलवा लिए। कथा से कुछ देर के लिए फिर श्रोता खिलाड़ियों का ध्यान हट गया; पर शीघ्र ही खिलाड़ी नई चालें सोचने में लम्बा समय लेने लग गए।

इंजीनियर साहब ने कहा—"हाँ, डिप्टी साहब, फिर आगे क्या हुआ ?"

मिस्टर दयाल बोले—"घटना को मैं ठीक वैसे ही दुहरा रहा हूँ, जैसे गवाहों ने मेरे सामने वर्णन की थी।"

"हाँ, हाँ।" इंजीनियर बोले—"इस समय न्यायाधीश मैं रहा। डिसीशन (फैसला) मैं दूँगा। क्यों वकील साहब ?"

"हाँ, हाँ, यही सही।" वकील ने कहा। इंजीनियर छोटे नाटे शरीर का खिलाड़ियों में सबसे कम उम्र का था। वह कभी-कभी बच्चों का सा व्यवहार भी करने लग जाता। जंगल का अफसर मोटे होंठ और लम्बे बालोंवाला था। पान मुँह में दबा रहने से बहुत कम बोलता था। उस पहाड़ी शहर में तो पान भी डाक के पार्सलों द्वारा दूर मैदानों से मँगाए जाते थे, इसलिए उससे पान थूकते बनता न था।

"शिवचरण पुल की मरम्मत के काम में खुद ही लग गया।" मजिस्ट्रेट दीनदयाल कहते गए—"नदी में बह-बहकर आये हुए लट्ठों को काट और चीरकर उसने डोंगियों के लिए पतले-पतले तख्ते कई मास से बनाने आरंभ कर रक्खे थे। रस्से भी तैयार थे। जमींदार के ठेके के समय में ढीला-ढाला पुल बनता था, उससे कहीं अच्छा, सुन्दर और मजबूत पुल उसने बनाया था। लकड़ी की अन्तिम बल्लियों को, चट्टान के ऊपरवाले पाये पर जो हमारे इलाके में है, वह एक शाम जुड़ा रहा था कि जमींदार केशरसिंह की नजर उस पुल पर पड़ी। वह शहर से कई दिनों बाद लौट रहा था। पुल को देखकर उसका माथा ठनका। अपनी पैतृक सम्पत्ति, इस पुल को, जिसे इसके बाप-दादा अपनी ही जमींदारी का अंश मानते थे, हाथ से जाने और एक अछूत कारिन्दे द्वारा हथिया लिये जाने पर बड़ा क्षोभ हुआ। मन में बड़ी इच्छा हुई कि जाकर इस सुन्दर पुल को देखे। वह घोड़े से उतरा और कँकरीले मार्ग से चट्टान के ऊपर तक चला

गया, जहाँ पर पुल का हमारे इलाकेवाला पाया था। वहाँ उसकी दृष्टि शिवचरण पर पड़ी, जो पुल पर झुका हुआ रस्सी की अंतिम कड़ी को ठीक कर रहा था। उसने देखा, पुल खूब मजबूत बना था। तख्ते सटाकर लगाए गए थे। वह सोचने लगा, कंकड़ बिछाकर यदि कोलतार डाल दिया जाए, तो नैपाली सुब्बा और बड़े हाकिम घोड़े सहित पार हो जायँगे, औरतों को पालकियों से न उतरना पड़ेगा, नैपालियों से ही हजारों रुपया चुंगी उत्तरायणी के मेले पर ठेकेदार को मिल जायगी। यह सोच-कर केशरसिंह ईर्ष्या से जल उठा। दूर से केशरसिंह ने शिव-चरण को नहीं देखा था। यदि देखता, तो शायद वह वहाँ नहीं आता। शिवचरण उसी भाँति काम करता रहा। अपने ही हथियारों की खटपट में वह जमींदार केशरसिंह का आना न जान पाया। केशरसिंह क्षण भर पुल की ओर एकटक देखता रहा, फिर झुके हुए शिवचरण को संबोधित करके क्रोध से बोला कि क्यों उसने बिना जमींदार की आज्ञा के पुल बनाया। उसने पुल का ठेका जरूर लिया है, पर पुल के लिए जो पाए बने हैं, वह तो दोनों ओर जमींदार की जमीन में हैं। उनके लिए जमींदार की आज्ञा क्यों नहीं ली गई? शिवचरण ने प्रतिवाद किया, कहा कि ग्रामपंचायत की स्वीकृति से उसकी आज्ञानुसार पुल का ठेका लिया गया है। जमींदार उससे व्यर्थ नाराज न हों। पर जमींदार तो झगड़ना चाहता था। उसने देखा, पुल का रस्सा चट्टान के ऊपर एक खम्भे से साधकर अभी-अभी शिवचरण ने बाँधा है। उसकी वह छोटी-सी कुल्हाड़ी अभी उसी रस्से के फंदे से लटक रही थी। उस हथियार को देख, एक पाशविक भावना आकर केशरसिंह को विचलित कर गई। कुल्हाड़े को उठा कर केशरसिंह तत्क्षण रस्सा काटने को उद्यत हो गया। उसका

विकराल रूप देखकर शिवचरण ने एक हाथ से कुल्हाड़ी छीननी चाही। इस पर केशरसिंह ने उसके मुंह पर एक घूँसा तानकर मारा। सदा पानी में जीवन व्यतीत करनेवाले शिवचरण का हलका शरीर केशरसिंह के मुक्के के समाने रुक न सका। फिर भी वह तत्काल उठकर केशरसिंह की ओर लपका, जो मोटे रस्से पर दो-तीन चोटें कर चुका था। केशरसिंह ने उसे अपनी ओर झपटते देख, खींचकर कुल्हाड़े का एक आघात उसी पर कर दिया। कुल्हाड़े की चोट शिवचरण के सिर के बीचोंबीच पड़ी। वह वहीं पर गिर पड़ा। खून अभी जमीन तक न पहुँचा था कि केशरसिंह ने कुल्हाड़ा दूर नदी में फेंक दिया और पल भर में आहत शिवचरण की दोनों टाँगें उठा, उसे पुल के नीचे लुढका दिया।"

इस वर्णन को सुना देने के उपरान्त मिस्टर दयाल ने कहा—"है न यही बात, वकील साहब ? यही तो संक्षेप में केशरसिंह के विरुद्ध अभियोग था कि उसने शिवचरण की हत्या की थी ?"

"हाँ, यही था उसका अपराध।" वकील साहब ने प्रसन्नता से कहा—'पर जज साहब की अदालत में मैंने गवाहों से चोट के बाबत जिरह की। डाक्टर ने कहा था, छः इंच गहरा घाव था। एक गवाह से मैंने पूछ लिया था कि झगड़े के समय शिवचरण के सिर पर टोपी थी या नहीं ? और उसने कहा था—हाँ। इसी छोटे से नुक्स से मुवक्किल छूट गया। अपनी बहस में मैंने कहा कि यदि टोपी को देखा जाए, तो वह कुल्हाड़े की चोट से न कहीं कटी है और न उसमें रक्त का कोई दाग है। छः इंच गहरा घाव यदि मुलजिम के सर पर हो गया, तो टोपी या तो उसके सिर पर चिपकी रहती या गिर पड़ती और चोट का

निशान उस पर अवश्य होता। इसी पर जज साहब मेरे दूसरे तर्क को मान गए कि मृत व्यक्ति पुल पर काम करते-करते अचानक पाँव फिसल जाने से स्वयं नदी में गिर पड़ा। चट्टान पर उसका सिर टकराया और वह मर गया। मृत्यु आकस्मिक थी, एक दुर्घटना मात्र।"

बड़ी तल्लीनता से घटना का यह वर्णन सुन, मिस्टर दीनदयाल ने कहा—"अच्छा, तो यह बात थी। मैं समझा था कि केशरसिंह ने उसकी हत्या की होगी।"

वकील ने हँसकर कहा—"हत्या तो उसी ने की थी, क्योंकि मृत व्यक्ति को तत्क्षण पुल के नीचे लुढ़काकर उसकी टोपी को, जो इस छीना-झपटी में पहले ही गिर गई थी, जमींदार ने ही उठाकर नीचे फेंक दिया था। केशरसिंह का शरीर तो तत्काल जलमग्न हो अदृश्य हो गया। पर उसकी टोपी हलकी होने के कारण नदी तक पहुँच न पाई और चट्टानों पर अटकी रही। वह उसी शाम घबराया हुआ मेरे पास आया था कि कहीं उसकी सरकारी काम में उस दिन की हाजिरी दिखला दूँ, ताकि वह हत्या के अपराध से बच जाए।"

जंगल के अफसर ने उपहास में कहा—"तब आपने एक हत्यारे को बचा दिया, यह जानते हुए भी कि हत्यारे का बचाना हत्या में सहायक होने के समान ही एक अपराध है।"

बच्चों की भाँति हँसकर इंजीनियर ने कहा—"इस समय मैं न्यायाधीश हूँ, इस अपराध के लिए न्यायाधीश की हैसियत से आपको भी फाँसी की सजा देता हूँ।"

"आप ठीक कहते हैं।" वकील बोले—"पर कानून में पारंगत के लिए कानून कोई चीज नहीं।" और फिर हाथ पर

बचे ताश को पटककर बोले—"यह लीजिए, आप अपना इक्का और बादशाह छिपाए बैठे थे, उन्हें लाइए। मेरे पास दोनों ट्रुप हैं।"

मिस्टर दयाल खिसियाकर हँस दिए। इक्का उनके खुले हुए पत्तों में था और बादशाह उनके पार्टनर इंजीनियर के पास।

वकील बोले "ग्रैण्ड स्लैम * हुआ हुआ और रबर † भी।"

"मैं तो बिलकुल कलबर्टसन (ब्रिज के प्रसिद्ध खिलाड़ी) के अनुसार खेल रहा था।" इंजीनियर शर्माते हुए बोले।

वकील ने उत्साह से कहा—"किताब में पढ़कर भी कहीं खेल खेला जाता है। भेड़ जैसे बुद्धू खिलाड़ियों के लिए हैं किताबें। अन्धानुगमन न कीजिए। कुछ मस्तिष्क पर जोर डालिए। पत्ते याद रखिए। यही ब्रिज है।"

इंजीनियर वकील की इस टीका से तिलमिला उठे, पर बोले कुछ नहीं।

"वकील साहब खेल में जोश पकड़ जाते हैं आप।" जंगल के अफसर ने कहा—"तभी तो आपके साथ खेलने में सारा गुड़ गोबर हो जाता है।"

"स्वभाव से विवश हूँ, क्षमा चाहता हूँ।" वकील ने तत्क्षण संकुचित होकर कहा—"उत्तेजित होना वकील को सीखना पड़ता है; पर मैं बहुत कम उत्तेजित होता हूँ, यह तो मेरे पेशे

*—ग्रैण्ड स्लैम—पूरे तेरह हाथ की बाजी जीतना।

†—रबर—लगातार दो बाजियाँ एक ही पक्ष द्वारा जीता जाना।

का दोष है। इंजीनियर साहब तो मुझे भी एक मनुष्य को मौत से बचाने के पुण्य का दंड देना चाहते थे, फाँसी की सजा। मैंने केवल भेड़ से उनकी उपमा दी, तो उन्हें बुरा न मानना चाहिए। खेल की भावना में कही गई बातें हैं यह सब, फिर सेवक तो क्षमा-याचना करता है।"

उसी समय बाहर जूतों की खटपट हुई। इंजीनियर ने झाँककर देखा, एक बूढ़े व्यक्ति ओवरकोट लादे चले आ रहे हैं।

"आखा, जज साहब हैं।" कहकर वकील विश्वनाथ ने किवाड़ खोलकर उनका स्वागत करते हुए कहा—"आइए, तशरीफ लाइए।"

सब लोग खड़े हुए। जज साहब भी कभी ताश खेल लेते हैं, पर बहुत कम। सब उनका आदर करते हैं, केवल इंजीनियर साहब उनके बहुत मुँहलगे हैं। अफवाह है कि वह उनकी लड़की से प्रेम करते हैं। शादी की बातचीत चलने-वाली है।

"भाई, शाम काटे न कटी, चला आया।" जज बोले, फिर ताशों को देखकर कहा—"खेलो भाई, खेलो। रुक क्यों गए? मैं जरा आग के पास बैठूंगा।"

"नहीं साहब, आप भी खेलिए।" दीनदयाल ने आग्रहपूर्वक कहा—"मैं बहुत खेल चुका हूँ।"

"नहीं, मैं अब न खेलूंगा।" इंजीनियर ने उठते हुए कहा—"मैं अलग बैठता हूँ।"

"सेवक को तो खेलना आता ही नहीं।" वकील विश्वनाथ

बोले—"जज साहब खेलें, तो उनसे कुछ सीखने को ही मिलेगा।"

सबको मिन्नत करते देख, जज बोले—"अच्छा, पत्ता खींचकर निर्णय कर लें। पाँचों में से सबसे छोटा पत्ता जिसका निकले, वही खेल से अलग हो जायगा। मैं खेलूंगा सिर्फ एक बाजी।"

"एक ही सही।" सबने एकस्वर जो कहा।

मिस्टर दीनदयाल का पत्ता सबसे छोटा निकला। उन्हें अलग होना पड़ा। फिर ताश बटे, खेल आरंभ हुआ।

"थोड़ी देर के लिए क्षमा करें, मैं अभी आया।" कहते हुए दीनदयाल अन्दर चले गए। उस छूटे हुए अपराधी केशरसिंह की बात से, वे उसी पर विचार करने को विवश थे। अपनी लाइब्रेरी में गए। हाईकोर्टों के संकलित मुकदमों की सूचियाँ देखीं। जल्दी में बहुत सी बड़ी-बड़ी न्याय-मूर्तियों के प्रवचन पढ़े। कहीं कोई उदाहरण नहीं मिला कि न्यायाधीश यह विश्वास हो जाने पर भी कि अमुक हत्यारा है, उसे अपने ही विश्वास के आधार पर पकड़वा ले। झुंझलाकर वे किताबों को बन्द करके बाहर बैठक के कमरे में आते सोचने लगे—'मजिस्ट्रेट हूँ, साल भर का जेल और पाँच सौ रुपये का जुर्माना स्वयं कर सकता हूँ; अपराधी को बिना जमानत अभिरक्षा में लेकर बिना मुकदमा चलाए तीन महीने तक बन्दी बना सकता हूँ; पर हत्याकार केशरसिंह का तथा इसे जानबूझकर बचानेवाले विश्वनाथ का बाल बाँका नहीं कर सकता, क्योंकि कहीं ऐसी नजीर, ऐसा कानूनी उदाहरण, है ही नहीं।'

लगभग पन्द्रह मिनट बाद जब दीनदयाल बैठक के कमरे

में लौट आये, तो खेल समाप्त हो रहा था। खेल की समाप्ति पर पत्ते सँभालकर जज साहब बोले—"अब आप लोग खेलें मैं जरा अँगीठी के निकट बैठकर अखबार देखूँगा।"

दीनदयाल ने अपनी साहित्यिक प्रवृत्ति का परिचय देते हुए कहा—"बाहर दृश्य बहुत सुन्दर है। आज कई दिनों के उपरान्त आकाश स्वच्छ हुआ है। अस्ताचल-गत सूर्य की आभा घाटी में ऐसी फैल रही है कि सारा हिमालय स्वर्ण वृष्टि करता दीख रहा है।"

"चलिए देखा जाए।" इंजीनियर बोले—"जज साहब, आपने देखा, आज वकील विश्वनाथ बहुत प्रसन्न हैं। कोई कत्ल का मुकदमा जीता है इन्होंने आपकी अदालत से।"

सब लोग बरामदे में चले आये।

जज साहब ने इंजीनियर की बात का समर्थन करते हुए कहा—"उस हत्या की आपकी थ्योरी (कारण को लेकर कार्य का अनुमान) खूब अच्छी बनी थी कि मृत व्यक्ति अपने-आप पुल से गिरकर मरा था। टोपीवाली बात ने आपके अनमान की पुष्टि कर दी। उससे तो मामला ही पलट गया।"

"और वास्तव में जो अपराधी था, वह छूट गया।" इंजीनियर ने कहा।

"छूटता ही।" जज बोले—"मैं स्वयं जानता हूँ कि हत्याकार वही था, पर गवाही तो बिलकुल विपरीत हो गई थी। क्या होता? मुकदमे में जान तो इनकी जिरह के बाद रह नहीं गई थी।"

दीनदयाल के लिए यह प्रसंग असह्य था। वे सोच रहे थे कि तब जज साहब भी जानते हैं, कातिल वही था और यह जानकर भी अपंगु-से विवश हैं। बात को आगे बढ़ाना उचित न समझ, डूबते सूर्य की स्वर्णतार सी खिंची रश्मियों की ओर संकेत करके दीनदयाल बोले— "देखिए, घाटी के ऊपर स्वर्ण किरणों कैसा वितान-सा बनाए हैं।"

सब लोग पश्चिम की ओर दूर-दूर खड़े पहाड़ों के बीच उस बड़ी नदी की विस्तृत घाटी की ओर देखने लगे। सूर्य की किरणों समीपस्थ श्रेणी पर खड़े देवदार और चीड़ के वृक्षों से छन-छनकर आ रही थीं। यद्यपि पूर्व की ओर अँधियारा घिरने लगा था। पश्चिम की ओर डूबे हुए सूर्य की तिरछी किरणों के कारण घाटी बड़ी सुन्दर लगती थी। पास के टीले के किनारे देवदार के वृक्षों के नीचे एक श्वेत पंक्ति सरकती-सी दीख रही थी। ये रामगुलाम की भेड़ें थीं। पंक्ति स्पष्ट होती गई, फिर दयाल साहब के बँगले के ठीक सामने भेड़ें पक्की चौड़ी सड़क पर आ गईं। अब तक की वह पतली लम्बी लकीर अब श्वेत झुंड में परिवर्तित हो गई।

सड़क पर बच्चों ने आग सुलगाई थी। चीड़ की पत्तियाँ जलाकर बच्चे आग ताप रहे थे। आग तो बुझ चुकी थी, पर बच्चों ने भेड़ों को परेशान करने के लिए दो-चार जलते कोयले सड़क पर बिखरा दिए थे।

भेड़ें आईं और आगे आनेवाली दो-तीन भेड़ें उन जलती चिनगारियों पर पाँव पड़ते ही बिलबिला उठीं। बच्चों ने प्रसन्न होकर तालियाँ दीं। वे दोनों भेड़ें डरकर सड़क के नीचे पहाड़ के ढाल पर उतर गईं। देखते-देखते और भी भेड़ें चौड़ी सड़क को छोड़कर उसी ढाल पर उतरने लगीं। फिर सब भेड़ें चौड़ी

सड़क को छोड़, उसी पहाड़ी पर अपने आगे चलनेवाली भेड़ों के पीछे उतर गईं। कई भेड़ें तो ऐसा करने में लुढ़कती चली गईं, पर फिर भी भेड़ों की पंक्ति सरासर उसी ढालू पहाड़ी पर उतरने लगी। चरवाहे ने बड़ी कोशिश की कि उनको मार्ग पर लाया जाए, पर उसका प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुआ। भेड़ें लुढ़कती चली गईं।

वे सब पढ़े-लिखे विद्वान् सरकारी कर्मचारी भी बरामदे में खड़े-खड़े आश्चर्य से देखते रहे कि अब इन अन्धानुगमन करने-वाले निरीह पशुओं का क्या होगा।

न्यायशील बनने का सच्चा प्रयत्न करनेवाले दीनदयाल भी उस समय सोचने लगे कि वकील ने ठीक ही कहा था कि भेड़ों-जैसे मस्तिष्कवाले लोगों के लिए हैं पुस्तकें। मैं या ये वृद्ध जज कानून का अन्धानुगमन करनेवाले शिक्षित भेड़ नहीं तो क्या हैं, जो इन वकीलों के रचे शब्दों के जाल में ही फँसकर न्याय के वास्तविक उद्देश्य को भूलकर कानून के शाब्दिक अर्थ के पीछे पड़ जाते हैं। हम रोग का निदान करनेवाले उन डाक्टरों जैसे हैं, जो रोगी को छोड़कर दवा के रासायनिक विश्ले-षण में ही उलझ पड़ते हैं, या यह सोचने लगते हैं कि कौन सा पुराना नामी डाक्टर इन लक्षणों का क्या निदान कर गया और कौन सी दवा देना निश्चित कर गया। अपना विवेक कहीं काम में नहीं लाते।

पर इसका उपचार क्या है, यह अब भी उनकी समझ में नहीं आया।

सब लोग पारस्परिक अभिवादन के बाद अपने-अपने घरों को लौटे। मार्ग में वकील विश्वनाथ ताश के पत्तों को अपनी

आँखों के सामने उसी प्रकार खिसकते देख रहे थे। दूसरी बार भी ताश की बाजी जीत लेने की प्रसन्नता उनके हृदय में समाती न थी। बँगले के सामने चढ़ाई पार करके सड़क पर आकर इंजीनियर से बोले—"इस बार भी देखा आपने ? न जज साहब का बादशाह काम आया और न डिप्टी साहब का एक्का। मैं गेम कर गया।"
